सरस्वती-सम्मेलन का चतुर्थ वार्षिक वृत्तान्त

श्री भवानीप्रसाद जी

ओ३म् ।

सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्

सरस्वती-सम्मेलन

का

चतुर्थ

वार्षिक वृत्तान्त

प्रकाशक

मुन्शीराम जिज्ञासु

मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल

सं० १९६८ वि०

विषय-सूचिः

सूचना ।

श्रीमन्तो महाभागाः ! अस्य चतुर्थ वार्षिकवृत्तस्य प्रकाशनेऽनिवार्य कारणवशान्मुद्रण शैथिल्याच्च यो विलम्बः समजायत स नूनं भवद्भिः क्षन्तव्यः संशोधन प्रमादाऽवशिष्टानि स्खलितानि चाऽवश्यं भवन्तः क्षंस्यन्त—

इत्याशास्ते

विश्वमित्रः

साहित्यपरिषन्मन्त्री

॥ ओ३म् ॥

सरस्वतीसम्मेलन के चतुर्थ वर्ष
का
संक्षिप्त वृत्तान्त ।

सरस्वतीसम्मेलन का चतुर्थ-वार्षिक अधिवेशन १९६८ संवत् की प्रथम तथा द्वितीय वैशाख (१३-१४ अप्रैल १९११) को पृथक् २ चार अधिवेशनों में समाप्त हुआ ।

इस वर्ष अनेक विद्वानों ने सम्मेलन की शोभा बढ़ाने में साहाय्य दिया । परिषद् हार्दिक धन्यवाद पूर्वक उन सब की कृतज्ञ है और विशेष रूप से यह बंगाल के श्रीयुत पं० विधुशेखर भट्टाचार्य्य जी, श्रीयुत पं० श्री० दा० सातवलेकर जी, श्रीयुत स्वा० सत्यानन्द जी, श्रीयुत पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ और श्रीयुत म० जगन्मोहन वर्म्मा जी की कृतज्ञ है जिन्हों ने अपने उत्तमोत्तम एवं विचार पूर्ण भाषणों द्वारा विद्वज्जन समूह को अमृतस्नात इव कर दिया । साथही यह परिषद् म० विष्णुदत्त जी को भी नहीं भूल सकती जिन्हों ने अपनी सुमधुर एवं वाद्यमात्र सहाय

वाणी द्वारा श्रोताओं के कर्णों को आप्यायित किये रक्खा :

इस वर्ष के अन्यतम निबन्धकर्ता श्री० पं० केशवदेव जी शास्त्री अपनी माता की अस्वस्थता के कारण सम्मेलन के अवसर पर उपस्थित न हो सके, अतः उन्होंने पूर्ण सहानुभूति पूर्वक क्षमा याचना करते हुए आने में असमर्थता का सूचक तार भेज दिया था। श्री० पं० घनश्यामसिंह जी गुप्त B. Sc. L. L. B. भी जो कि परिषद् के सुयोग्य तथा उत्साही सज्जनों में से एक हैं अनिवार्य कारणवश से सम्मेलन के अवसर पर उपस्थित न हो सके। आपने भी परिषद् के नाम आगमन के विरोधी कारणों के प्रति शोक सूचक तार भेज दिया था।

१ म वैशाख (१३ अप्रैल) प्रातः।

प्रातः काल यज्ञ के अनन्तर सम्मेलन के प्रारम्भ में श्री० महात्मा मुन्शीराम जी (प्रधान साहित्य परिषद्) ने परिमित एवं सारगर्भित शब्दों में सब उपस्थित सज्जनों को परिषद् की ओर से धन्यवाद देते हुए सम्मेलन की आवश्यकताओं को हस्तामलकवत् कर दिखाया। इस के पश्चात् सम्मेलन का का कार्य प्रारम्भ होने को था। उस समय-विभाग में जो मुद्रित हुआ था श्री० स० जगन्मोहन वर्मा जी का नाम

था। किन्तु वर्म्मा जी लकसर में गाड़ी चूक जाने के कारण नियत समय पर न पहुंच सके अतः उस समय "उपनिषदों में अद्वैत वाद" पर संस्कृत में विचार हुआ। द्वैत पक्ष के प्रधान पोषक श्री० पं० आर्यमुनि जी और अद्वैत पक्ष के श्री पं० शालग्राम जी (गुरुकुलाध्यापक) थे। विचार यद्यपि शुष्क विषय पर और संस्कृत भाषा में था तथापि सहस्त्रों आदमियों का निश्चेष्ट होकर बैठे रहना सम्मेलन की कृतकृत्यता का पर्य्याप्त सूचक था। सभापति श्री० पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ थे।

मध्यान्ह (१ वैशाख) । प्रथम अधिवेशन।

उसी दिन सायंकाल १ बजे से फिर सम्मेलन की कार्य्यवाही प्रारम्भ हुई। आरम्भ में ब० विष्णुदत्त जी ने कुछ समय तक अपनी मधुर वाणी द्वारा सब के मनों को आकर्षित किये रखा।

तदनन्तर सामयिक प्रधान श्री पं० विधुशेखर भट्टाचार्य्य जी ने अपना प्रारम्भिक * "अभिभाषण" प्रारम्भ किया। यद्यपि "अभिभाषण" संस्कृत में था तथापि मधुर, भाव पूर्ण और सरल था, शब्द जाल से सर्वथा दूर था। अतः उसके सब गुण अपने ही थे। अतः हम संस्कृत में प्रवेश रखने वाले सब महा-

---

* अभिभाषण २९ पृष्ठ पर मुद्रित है।

शयों से प्रार्थना करते हैं कि वे यदि इसके समझने का यत्न करेंगे तो अवश्य ही समझ पांयगे। तथापि कुछ थोड़ासा अभिप्राय हम यहां भी आर्यभाषा में प्रकट कर देते हैं। आपने कहा—

"भद्र! भ्रातृगण!

सब से प्रमथ मैं आपको, सभापति का आसन देकर अत्यन्त अनुग्रह करने के कारण अनेकानेक धन्यवाद देता हूं किन्तु साथ ही मैं यह भी कहना चाहता हूं कि मेरे जैसे अयोग्य पुरुष के संग से यह सभापति का आसन निश्चय ही बहुत कलङ्कित हुआ है। आज इस शुभदिन को देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। इस शुभ अवसर (सरस्वती सम्मेलन) का लाने वाला गुरुकुल ही है। आज जिधर देखो उधर गुरुकुल के ही गुण गाये जाते हैं। अतः सभ्यगण! आओ मैं आप को गुरुकुल की विशेषताएं बतलाऊं। आज कल इस देश में पाश्चात्य रीति पर अनेक विद्यालय चल रहे हैं पर वे हमारी आवश्यकताओं को पूरा करने में सर्वथा असमर्थ हैं, क्योंकि पूर्वीय और पाश्चात्य सभ्यता में ज़मीन आसमान का अन्तर है। पूर्वीय सभ्यता वनों से प्रादुर्भूत होती है और पाश्चात्य सभ्यता शहरों से। पूर्वीय सभ्यता आत्मा की सेवा करती है पर पाश्चात्य सभ्यता धन की

सेवा करती है। पूर्वीय सभ्यता अमृतत्व (मोक्ष) की उपासिका है और पाश्चात्य सभ्यता विषयानन्द की। इस के लिये आपने अनेक प्राचीन पुस्त कों के प्रमाण दिये।

इस समय की शिक्षा आसुरी शिक्षा है, देवशिक्षा नहीं। देवशिक्षा वह कहाती है जो ब्रह्मचर्य्य पूर्वक हो, जिस में आत्मा का शिक्षण हो। इस से रहित शिक्षा शिक्षा नहीं कहाती, ऐसी शिक्षा आचार्य्य के अतिरिक्त कोई नहीं दे सकता। अतः आचार्य्य कुलों की रीति प्रशस्यतम हैं। प्राचीन काल से वर्तमान काल भिन्न है। अतः इस समय के गुरुकुलों में प्राचीनों की अपेक्षा कुछ न कुछ भेद अवश्य है और वह होना भी चाहिये। यद्यपि प्राचीन समय में पाश्चात्य विद्याओं की शिक्षा न दी जाती थी तथापि अब उस का कुछ न कुछ देना आवश्यक हो गया है अन्यथा हमारे ब्रह्मचारी पाश्चात्य सभ्यता के अच्छे अंशों को ग्रहण करने और बुरे अंशों के त्यागने में समर्थ न हो सकेंगे"। तदनन्तर ब्र० ब्रह्मदत्त जी ने अपना "प्राचीनार्य्याणां सभ्यता"* विषयक संस्कृत में निबन्ध पढ़ा। निबन्ध में निम्न लिखित बातों पर विशेष बल दिया गया था:—

---

* यह निबन्ध ६२ पृष्ठ पर मुद्रित है।

(१) आर्यावर्त के निवासी और वेदधर्मावलम्बी ही आर्य पद वाच्य हैं, अन्य नहीं अतः पाश्चात्य विद्वानो द्वारा "आर्य" शब्द का अर्थ 'कृषक' किया जाना सर्वथा भ्रम मूलक है।

(२) सृष्टि के आरम्भ से पतञ्जलि ऋषि तक भारतवर्ष भर में प्रायः संस्कृत भाषा बोली जाती थी, इस की पुष्टि में आपने महाभाष्य का सूत और वैय्याकरण का विवाद प्रमाणरूप से पेश किया।

(३) प्राचीन समय में जाति गुण कर्मानुसार मानी जाती थी और इसी व्यवस्था से संसार के सारे दुःख दूर किये जा सकते हैं अन्य सोशलिज्म आदि उपायों से नहीं।

(४) प्राचीन आर्यों ने केवल आध्यात्मिक उन्नति ही न की थी वरन् प्राकृतिक उन्नति के भी शिखर तक पहुंच चुके थे। इस के लिये निबन्धकर्ता ने रामायण शुक्रनीति आदि के कई प्रमाण दिये।

(५) अन्त में निबन्धकर्त्ता ने ब्रह्मचर्य्य निष्ठा, स्वयंवर विवाह, स्त्रियों का सम्मान, प्रजातन्त्र राज्य, परोपकार वृत्ति, अहिंसा वृत्ति और व्यापार वृद्धि को ही सच्ची उन्नति के अंग बतलाते हुए प्रत्येक का भली भांति वर्णन किया और प्राचीन आर्यों में इन सब गुणों की विद्यमानता दर्शाई। निबन्ध पर समालो-

चना और उस के उत्तर के अनन्तर सभापति म० ने किञ्चित् भेद भाव को स्वाभाविक बतलाया और निरर्गल वाद को रोकने की सुमुचित सम्मति दी।

तदनन्तर कविरत्न श्री अखिलानन्द जी ने निज निर्मित "*यज्ञशतक" (१०० श्लोक, यज्ञ की स्तुति के) पढ़ कर सुनाया। इस की समाप्ति के साथ ही सभा भी विसर्जित हुई।

रात्रि । द्वितीय अधिवेशन ।

क्योंकि श्री म० जगन्मोहन वर्मा जी दुपहर को आगए थे अतः ८ बजे रात्रि को निबन्ध पढ़ा जाना निश्चत हुआ।

सामयिक सभापति का आसन श्री० स्वा० सत्यानन्द जी ने ग्रहण किया। सभापति के कुछ प्रारम्भिक वाक्यों के अनन्तर श्री० म० जगन्मोहन वर्माजी ने "*क्या बुद्धदेव नास्तिक थे" विषय पर आर्यभाषा में अपना निबन्ध पढ़ा।

इस के अनन्तर समालोचना प्रारम्भ हुई। समालोच कों ने २-३ ही बातों पर विशेष बल दिया।

(१) वेदों में "दक्षिणा सूक्त" को जो निबन्धकर्ता ने प्रक्षिप्त माना है वह सर्वथा असमञ्जस है।

---

* यह "शतक" १ पृष्ठ पर मुद्रित है।

* यह निबन्ध ९४ पृष्ठ पर मुद्रित है।

श्री० पं० श्री० दा० सातवलेकर जी ने तो उन्हीं दक्षिणा सूक्त के मन्त्रों के ऐसे अच्छे अर्थ कर दिखाये कि अन्त में निबन्धकर्ता को भी कहना पड़ा कि "यदि उन मन्त्रों के येही अर्थ हैं तो मैं इन को प्रक्षिप्त नहीं मानता"।

(२) यद्यपि बुद्ध भगवान् नास्तिक न थे परन्तु नास्तिक न होना और आस्तिक होना इन में बड़ा अन्तर है।

पश्चात् निबन्धकर्त्ता ने कुछ बातों को अङ्गीकार किया और कुछ का फिर स्पष्टीकरण किया।

तदनन्तर सभापति महोदय ने समालोचकों का साथ देते हुए कहा कि यद्यपि बुद्ध नास्तिक न था तथापि पुष्ट प्रमाणों के बिना आस्तिक भी नहीं कहा जा सकता; निबन्धकर्त्ता ने जितने भी प्रमाण दिये हैं, वे बुद्ध की आस्तिकता को सिद्ध नहीं करते। इस प्रकार ११ बजे रात्रि के सभा विसर्जित हुई।

२ वैशाख (१४ अप्रैल)

पूर्वाह्ण। ३ य अधिवेशन.

प्रातःकाल के समय यज्ञादि के पश्चात् सम्मेलन की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। सामयिक-सभापति का आसन श्री पं० शिवशंकर जी ने ग्रहण किया। श्री. पं० केशवदेव जी शास्त्री का निबन्ध पढ़ा जाने को

था। पं० जी की माता अत्यन्त बीमार थी अतः उन के न आने पर मन्त्री (सा० परिषद्) ने उनका "* ब्राह्मणालोचनम्" संस्कृत भाषा का निबन्ध पढ़कर सुनाया।

निबन्ध की मुख्य २ बातें ये थीं:—

(१) ब्राह्मण वेदवत् प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि वे मनुष्यों के बनाए हुए हैं।

(२) देवता निमित्तक पुरोडाशादि का प्रक्षेप ही यज्ञ शब्द का अर्थ है।

(३) (ब्राह्मणों) का मुख्य प्रयोजन वेदार्थों को सुलभ करना है।

(४) ब्राह्मणों में तत्कालीन सभ्यता का बड़ी उत्तम रीति से वर्णन किया गया है। उस समय स्त्रियों की अवस्था कुछ प्रशस्य न थी।

(५) ब्राह्मणों में अवद्य और अनवद्य दोनों प्रकार के वाक्य हैं। कई बातें विज्ञान से टक्कर खाती हैं।

(६) वर्ण-व्यवस्था जन्म से भी मानी जाती थी।

(७) ब्राह्मणों के मत में स्वर्ग और नरक प्रदेश विशेष माने जाते हैं।

क्योंकि निबन्धकर्त्ता उपस्थित न थे, अतः समालोचना न हो सकी।

---

* यह निबन्ध १२४ पृष्ठ पर देखो।

इस के पश्चात् सभापति महोदय श्री पं० शिव-शङ्कर जी ने अपना भाषण प्रारम्भ किया। भाषण की समाप्ति पर श्री पं० गौरीशङ्कर व्यास (गुरुकुलाध्यापक) जी ने अपनी चित्रमयी * कविता पढ़कर सुनाई। कविता समाप्ति के साथ ही ३ य अधिवेशन की कार्यवाही भी समाप्त हुई।

२ बैशाख

मध्यान्ह । चतुर्थ अधिवेशन.

सायङ्काल को पुनः २ बजे से सरस्वती सम्मेलन की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। प्रारम्भ में स० विष्णु-दत्त जी ने गान प्रारम्भ किया और सब उपस्थित सज्जनों के चित्तों को खींचे रक्खा।

इसके पश्चात् सामयिक सभापति श्री. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी ने सभापति का आसन ग्रहण करते हुए कहा कि —

वेद ही ऐसी पुस्तक है जिस को भारतवर्ष के प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपनाने में अपना गौरव समझते हैं अतः हमको इस के अनुशीलन की बड़ी भारी आवश्यकता है साथ ही मैं उन पाश्चात्य विद्वानों को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता जिन ने अपने अनथक परिश्रम से हमारी — नहीं नहीं सारे

---

* यह कविता २१ पृष्ठ पर मुद्रित है।

संसार की धर्मपुस्तक पर विचार का मार्ग खोलने में पैहल की है। कुछ लोगों की उन विद्वानों के प्रति बड़ी घृणा की दृष्टि है पर मेरी सम्मति में वे पाश्चात्य विद्वान् उन लोगों की अपेक्षा जो युद्ध विषयक मन्त्रों को दुर्गापूजा पर लगाते हैं और बोलते भी हैं वेदों के रक्षक बनने का पहिला अधिकार रखते हैं। क्योंकि इस परमपवित्र कार्य को आर्यसमाज यथाशक्ति कर रहा है अतः समाज का अनुकरण तथा साहाय्य हम सब को भी करना चाहिये।

इसके पश्चात् ब्र० इन्द्र जी ने अपना " * वेदार्थ का प्रकार " विषयक आर्य्यभाषा का निबन्ध पढ़ा। निबन्ध पढ़े जाने के समय २॥ सहस्र के लगभग मनुष्य उपस्थित थे।

निबन्ध पढ़े जाने पर समालोचकों ने निम्न लिखित बातों पर ही विशेष बल दिया :—

(१) वेदार्थ करने के लिये लैटिन, ग्रीक, पहलवी आदि भाषाओं के ज्ञान की आवश्यकता है अथवा नहीं।

(२) तर्क को वेदार्थ करने में मुख्य भाग लेना चाहिये या नहीं ।

---

* यह निबन्ध पृष्ठ १४७ पर मुद्रित है।

(३) क्या योगी ही वेदार्थ कर सकते हैं अथवा अन्य अस्मादृश भी ।

(४) वेदार्थ करने में स्वरें सहायक हैं अ-थवा नहीं ।

समालोचकों की समालोचना के समाप्त होने पर निबन्ध कर्त्ता ने उन का यूं समाधान किया—

(१) यतः कई शब्द जो लौकिक भाषाओं में एक विशेष अर्थ के बोधक हैं पर वेद में वेही शब्द लौकिक अर्थ के ठीक विपरीत अर्थ के वाचक हैं जैसे लोक में "वाम" शब्द का अर्थ "उलटा" या "बायां" है परन्तु वेद में "वाम" शब्द का अर्थ "सुन्दर" है अतः लौकिक भाषाओं (लैटिन, ग्रीक, पहलवी आदि) के ज्ञान को वेदार्थ में कारणता है ।

(२) माना कि निरुक्त व्याकरणादि शब्दार्थ के बोध कराने में सहायक हैं पर अनेक अर्थों में एक का निर्धारण करना तो तर्क का ही काम है ।

(३) "योगः कर्मसु कौशलम्" के अनुसार उक्त साधनों से सम्पन्न पुरुष योगीवत् अर्थ कर सक्ता है ।

(४) स्वरों को वेदार्थ करने में तब सहायक मान सकते हैं जब उन का वेदों के समकालीन होना स्वीकृत हो ।

निबन्धकर्त्ता के प्रत्युत्तर के अनन्तर सभापति महोदय ने निबन्धकर्त्ता के निबन्ध से सहमति प्रकट करते हुए कहा कि वेदार्थ ज्ञान उपलब्ध करने से पूर्व पुराणों, तन्त्र ग्रन्थों, और ब्राह्मण ग्रन्थों के गम्भीर अनुशीलन की आवश्यकता है। तन्त्र ग्रन्थों के विषय में आप ने कहा कि इन में अक्षरों को उलटा कर देने का एक नियम पाया जाता है यथा "अग्नि" का "हिंग"। इन के न पढ़ने पर कई विज्ञान सम्बन्धी बातें उलझी की उलझी ही बनी रहती हैं।

प्रत्येक मन्त्र का विनियोग अर्थ को देख कर करना चाहिये अन्यथा शब्द साम्य से तो ईसा महाशय को भी "ईशावास्य मिदंसर्वम्" मन्त्र के देवता बनने का सौभाग्य प्राप्त हो जायगा।

सामयिक सभापति के भाषण के अनन्तर श्री० महात्मा मुन्शीराम जी (प्रधान सा० परीषद्) की ओर से श्री० प्रो० रामदेव जी ने सब उपस्थित सज्जनों के प्रति हार्दिक धन्यवाद तथा कृतज्ञता प्रकट की और विशेष रूप से बङ्गाल के श्री० पं० विधुशेखर भट्टाचार्य्य जी और श्री० श्री० दा० सातवलेकर जी जिन्होंने दूर देशों से आकर सम्मेलन की शोभा को अनेक गुणं तथा चिरजीवी

करने में विशेष साहाय्य दिया की कृतज्ञता के ऋण का वर्णन किया और साथ ही परमात्मा से प्रार्थना की कि यह सरस्वती सम्मेलन आगे से विशेष उन्नति के मार्गों का अनुसरण करता हुआ अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करे।

इस भाषण के साथ ही सरस्वती सम्मेलन का चतुर्थ वार्षिक अधिवेशन भी समाप्त हुआ।

विश्वमित्र
मन्त्री साहित्य परिषद्

कविरत्न-श्रीमदखिलानन्दशर्म्म प्रणीतम्

"यज्ञ वर्णन शतकम्" ।

आत्मनिष्ठ मथचात्म शरीरं ।
यं न वेद कथमप्ययमात्मा ॥
सर्वविश्वनिलयः स महात्मा ।
श्रेयसे भवतु सर्व जनानाम् ॥ १ ॥

विष्टपोद्धरणकामनया यो ।
योगिराडुपगतं सहसैव ॥
शर्म मौक्तिकमपास्य जगत्या-
माप जन्म स ममास्तु हृदन्तः ॥ २ ॥

कार्यमार्य पुरुषै रनिशं य-
च्छंदनं गुणवशादिह लोके ॥
वैदिकी नवरसा मधुरा सा ।
भारती भवतु सर्व सुखाय ॥ ३ ॥

---

१ य आत्मनि तिष्ठ न्नात्मनोन्तर इति वाक्यमवलंब्य मंगल मेतत् ।

२ विष्टपं भुवनम् ।

मंदधीरपि विशारद भावं ।
याति यत्करुणया रुणया तत् ॥
सद्गुरो श्चरण पंकज मारा-
न्मानसे लसतु निर्गत साम्यम् ॥ ४ ॥

वृद्धि मेति विदुधामिह येषां ।
संगमेन परिषत्प्रति वर्षम् ॥
हर्षपूर्ण मनसामपि तेषां ।
स्वागतं भवतु सर्वसमक्षम् ॥ ५ ॥

दैवतः परिषदत्र नियुक्ता ।
था समुद्ररस नन्द मृगाङ्कैः ॥
संगते शरदि सा सितपक्षे ।
चन्द्रिकेव ववृधे गुणभाजाम् ॥ ६ ॥

नात्र काश्चिदपि विस्मयलेशो ।
विद्यते यदियमिन्द्र[1] सहाया ॥
भारतोदरगताखिलयूनां ।
मानसानि परिणेष्यति हर्षात् ॥ ७ ॥

जातमेव नियतैरनुयोगा-
दाद्यमेकमधिवेशनमस्याः ॥
यत्समुन्नतिमदन्गुणगर्भा-
मेकतः स्तुतिपदं समुपागात् ॥ ८ ॥

---

१ इन्द्र ईश्वरो मंत्रीच ।

जन्मतोऽग्निमशरद्यणुभूतं।
यद्गुणेन विबुधैरपि मानम् ॥
सा भजस्व निशमत्र जगत्यां।
भावगर्भमजरादतिमानम् ॥ ९ ॥

विद्यते विदितमेव गतेऽब्दे।
प्रावदं यदहमत्र सभायाम् ॥
वेदवर्णनपरं नवपद्यं।
संमदेन शतकं विबुधानाम् ॥ १० ॥

नाल्पमस्मि कथनाय समर्थो।
यस्य यज्ञविषयस्य तमस्मिन् ॥
वार्षिकेविबुधवर्यकदम्बे।
साहसेन कथयामि कथंचित् ॥ ११ ॥

इज्यते जगति येन महेशः
कर्मणा भवति वा महितानाम् ॥
संगतिस्तदनुदानविवेक-
स्तन्निरुक्तमिह यज्ञपदस्य ॥ १२ ॥

धातुपाठपठिताद्यजधातो-
र्नङ्यथं भवति कृत्यविधाने ॥
यज्ञ शब्द इति के न विदुर्ये।
व्याकृते रधिगताः परपारम् ॥ १३ ॥

केवलोपि बहुलार्थकतां ता-
मेति शब्द इति यत्र समेति ॥

मानसे तदिह भावयतारं ।
यज्ञशब्दमति गूढविकारम् ॥ १४ ॥

कामधुग्भवति कारणवश्या-
देक एव किल शब्द इतीदम् ॥
सत्यमस्ति वचनं यदि सम्यक् ।
सत्प्रयोग मुपयाति महर्षेः ॥ १५ ॥

सर्वथा जगति पारमिता ये ।
कोविदास्तपसि दत्तमनस्काः ॥
वैदिकस्य विषयस्य त एव-
प्रायशोऽमरपदं प्रतियान्ति ॥ १६ ॥

यान्तु नाम न कथं सुरभावं ।
ते जना जगति यैर्निजकीर्तिः ॥
स्थापिता नवनिबंध विशेषै -
स्त्र निर्गतविनाशपदासा ॥ १७ ॥

माननं जगति यत्किल तेषां ।
संगतिश्च लघु तैः सह या सा ॥
यज्ञमेव समुपैति निसर्गा-
देतदेवयजधातु महत्त्वम् ॥ १८ ॥

याज्ञवल्क्यमुनिनिर्मितबंधे ।
दानमेव बहुवर्णितमेकम् ॥
यन्निवारयति दुस्तर दुर्गा-
दत्र तन्निरतमानववर्यान् ॥ १९ ॥

धर्मशास्त्रविपरिनिःसृतभव्य-
स्कंधभाय मुपयान्ति जगत्याम् ॥
यज्ञदानपठनानि किमेत-
न्नावलोकि भवतामपि पूर्वैः ॥ २० ॥

दानमत्र जगतीतलमध्ये ।
नाधुना भवति पूर्ववदेतत् ॥
किं न भाति भवतामपि बुद्धौ ।
यत्समस्तसुखकारणमेकम् ॥ २१ ॥

दानतो भवति भूतलमध्ये ।
कीर्तिरुत्तमतमा मनुजानाम् ॥
या न नश्यति विनाशमितेपि-
प्रायशः प्रकृतिकार्यकदंबे ॥ २२ ॥

उत्तमं जगति पात्रमवाप्य-
प्राप्य देशमपि विध्यनुकूलम् ॥
कालमप्युदितमीक्ष्य यदस्मि-
न्दीयतेभवतितत्सफलंसत् ॥ २३ ॥

गीतया न परिगीतमदः किम् ।
योगिराज मुखनिःसृतया यत् ॥
प्रागवर्णि मयकानिगमज्ञैः ।
किं न गीतमिदमेववदन्तु ॥ २४ ॥

निर्धनो भवति कुत्सितपात्रे ।
संप्रदाय वसुदानपरोपि ॥

नावलोकि किमिदं बत विज्ञैः ।
शुक्रनीति वचनं बहुसारम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मचर्यपरिपालनहेतो-
रस्ति यद्गुरुकुलंकृतमेतत् ॥
पात्रमस्ति तदलं धनभाजा-
माद्यमुत्तमधनव्ययभाजाम् ॥ २६ ॥

दीनबालविधवोद्धरणार्थे ।
ये ददत्त्यविरतं वसु लोके ।
मामकीन नवपद्यशतैस्ते-
किं न संसदि भजंतु यशांसि ॥ २७ ॥

वैदिकाध्वनि भवंतु कृतेच्छा ।
भूतलेऽत्र गमनाय चिराय ॥
नान्यवर्त्मनि कथंचिदितीव ।
प्रेक्ष्य यद्धितरणं तरणं तत् ॥ २८ ॥

सर्वमेतदिह दानकथान्तः-
पाति कार्यमुपयाति जगत्याम् ॥
यज्ञभेद परतामिति मत्वा ।
यज्ञमेव कुरुतास्मनिविष्टाः ॥ २९ ॥

ब्राह्मणेषु यजनं विधिदृष्टं
याजनन्तु मनुना ऽप्याधिदृष्टम् ॥
यत्समस्तजनदिष्ट मनिष्ट-
ध्वंसि साधयति वैदिकदिष्टम् ॥ ३० ॥

यज्ञरूप मधिपं भुवनानां ।
दैवतानि विबुधात्मनिभानि ॥
नायजन्त किमु विस्तृतयज्ञै-
रीक्ष्यतां निगममंत्रविधानम् ॥ ३१ ॥

बाहुजानिगमनाय कृतोध्वा ।
मानवेन विधिमार्गकरेण ॥
किं न बोधयति तेष्वल मिज्यां ।
वेदवाक्यपरिमार्जितकृत्याम् ॥ ३२ ॥

ये जना जगति जन्म समेत्य ।
प्रार्थयंत्यविरतं जगदीशम् ॥
ते यजंतु जगदीशकृतेऽलं ।
नान्यदस्ति परतः शिवमस्मात् ॥ ३३ ॥

संपदामविरतं भुवि दातृ-
प्राणयितृ भुवनोदरभाजाम् ॥
ये विहाय यजनं निजकार्ये ।
तत्पराः पशव एव बलात्ते ॥ ३४ ॥

धर्म एव जगतीतलभाजां ।
यज्ञनेन यजनं गुणभाजाम् ॥
नान्यदस्ति परमं धनभाजां ।
साधनं न परतः सुखभाजाम् ॥ ३५ ॥

---

१ यज्ञेन यज्ञमयजंतेति मंत्र मूलकंपद्यम्

देवपूजनमपास्य जगत्त्यां ।
ये प्रदत्तमिह तैः पवनादि ॥
भुञ्जते नरकमेव परस्ता-
त्ते प्रयांति बहुदुःखनिवासम् ॥ ३६ ॥

प्रत्यहं निजकृतं बत पापं ।
नेक्ष्यते यदि भवद्भि रुपात्तम् ॥
किं तदास्ति फलमीक्षणयोर्वा
कार्यमात्रपरिचारिसुबुद्धेः ॥ ३७ ॥

पार्थिवं जगति साधनमैशं ।
कीदृगस्मदुपकारकृते तत् ॥
कर्मणां मिलति कीदृशभावं ।
तत्प्रयाति मनुजैरुपभुक्तम् ॥ ३८ ॥

दिव्यगंधवदनेकगुणाढ्यम् ।
वीर्यवत्प्रकृतिपेशलमच्छम् ॥
जायते मनुजसंगवशात्किम् ।
नैव पूतिफलजालमनेकम् ॥ ३९ ॥

जीवनं भवति यज्ञनिभाजां ।
जीवनं तदपि मानवसंगात् ॥
पेयतामिह विहाय समेति ।
प्रत्यहं विकृतिमेव विशालाम् ॥ ४० ॥

---

१ जलम् ।

सर्वथा न लवमात्र मपीह ।
स्थातुमर्हति जनो यदभावात् ॥
कीदृशः सपवनोऽप्यहहारं ।
जायतेऽसुरभि रेतदवेक्ष्यम् ॥ ४१ ॥

किं किमत्र गणयामि महेशा
देशसिद्धमखिलं वसुनाशम् ॥
याति नैव यजनं यदि लोके ।
जायतेऽनुदिन मुत्तमहर्म्यैः ॥ ४२ ॥

प्रत्यहं यजन मात्तपदार्था-
शुद्धिदूरकरणाय यथेच्छम् ॥
कार्य मार्यपुरुषै रितिलोके ।
सिद्धमस्ति निगमेपि समृद्धम् ॥ ४३ ॥

यावदस्मदुपकारकमेदां ।
भूजलादि न समेष्यति शुद्धिम् ॥
नैव शांतिरुपयास्यति वृद्धिं ।
तावदत्र मनुजेष्वनु विद्धम् ॥ ४४ ॥

मंदतामुपगता मनुजानां ।
बुद्धिरत्र यदि कारणमेकम् ॥
दृश्यते जगति तर्हि पदार्था-
शुद्धिरेव समुपैति सुबुद्धिम् ॥ ४५ ॥

लभ्यतेपि मुनिभिः परिक्लृप्से ।
पुस्तके जलघृतान्नविशुद्धिः ॥

कारणं मनुजसंगतबुद्धे-
र्मार्जनस्य न यदस्ति गृहेषु ॥ ४६ ॥

कारणाद्भवति कार्यसमृद्धि-
र्भूतले भवति तद् यदि शुद्धम् ॥
शुद्धमेव सकलं यदशुद्धं ।
सर्वमस्ति जनजातमशुद्धम् ॥ ४७ ॥

भूतकाल मनुगच्छति कार्यं
योन्नति र्जगति बुद्धिमुपागात् ॥
नाधुनातनजना हितकृत्ये ।
सास्ति शुद्धिविलयेन किमन्यत् ॥ ४८ ॥

सर्वथा तदधुना जनवर्यै-
र्यज्ञमेव विधिपूर्वक मस्मिन् ॥
भूतलेऽनवरतं बहुवृद्धिं
नेयमेतदगमागमसिद्धम् ॥ ४९ ॥

दर्शनेषु बहुधा किल तस्य ।
प्रार्थिताऽर्थफलदस्य मुनीशैः ॥
कल्पिता नवविधा बहु यासां
भूतले भवति विस्तृतिरुग्रा ॥ ५० ॥

मासिमास्यवभृथाशनपूतं ।
यद्गृहं भवति भूतलभाजाम् ॥
भूत शुद्धिमधिगच्छति तत्त-
त्सर्वदेति मनुवाक्य मवेक्ष्यम् ॥ ५१ ॥

नूतनान्नसमये नवसस्यै-
र्यं वार्षिकमलंक्रियते यत् ॥
सादरं यजनमत्र तदन्ना-
दुद्गता नयति नाशमुरोगान् ॥ ५२ ॥

वार्षिकेषु यजनेषु शुचित्वं ।
यापितानि सकलान्यपि तानि ॥
साधनानि न भवन्ति गृहेषु
प्रायशो गतगुणान्यतिगंधैः ॥ ५३ ॥

शौचमेषु सकलेष्वपि मुख्यं ।
विद्यते यदि तदस्ति न यज्ञे ॥
निष्फलैव सकलापि तदानीं ।
यज्ञकार्यकृतिरुत्तमसंस्था ॥ ५४ ॥

मंदबुद्धिभिरनेकपशूना-
मत्र यज्ञविषये परिदिष्टम् ॥
मारणं नवनवामिषलोभा-
द्यन्न कर्हिचिदुपैति विधानम् ॥ ५५ ॥

"पाहि पाहि यजमान पशूंस्ता"-
नित्थमध्वरविधौ बहुवारम् ॥
वारयन्निगम एव विहिंसा-
मीक्ष्यतां विकसितेक्षणकंजैः ॥ ५६ ॥

---

१ उरिति वितर्के । २ उत्तमफला

नास्ति यस्य निगमेषुविधानं ।
हिंसनस्य कथमत्र तदस्य ॥
भूतले प्रथनमेतदिदानीं
भावुकै र्मनसि मंक्षु विचार्यम् ॥ ५७ ॥

यास्कदेवकृतशब्दनिरुक्ते
दर्शिताऽध्वरपदस्य निरुक्तिः ॥
स्पष्टमेव किल या पशुहिंसां
वारयत्त्यनुगता निगमार्थम् ॥ ५८ ॥

देवपूजनविधौ पशुहिंसा ।
चेद्भवे द्विपदरक्षणदक्षम् ॥
मंत्रविन्यसन मस्तु कथं वा ।
तच्चतुष्पदवता मपि शंके ॥ ५९ ॥

मानवेऽस्ति किल धर्मनिबंधे
यत्किंचित्तदनुकूलविधानम् ॥
सर्वथैव तदनर्गल सुग्र-
स्वार्थदक्षमनुजैः परिणीतम् ॥ ६० ॥

धर्मवर्णनपरं क्व जगत्यां ।
धर्मशास्त्र मघनाशनदक्षम् ॥
कुत्र तद्वचनजात मनल्पं ।
भेदजात मिदमत्र विचार्यम् ॥ ६१ ॥

सर्वशस्तादिह मारण मेषां ।
दूरतो लघु विधाय विधिज्ञैः ॥

सेव्यतां यजनमेव जगत्स्यां ।
यद्ददाति मनुजेष्टमनल्पम् ॥ ६२ ॥

नित्यमेव निगमाध्वनि वेगा-
दाहितं स्वचरणै र्भवनेषु ॥
पंचयज्ञविधिपालनमेकं ।
कार्य मेष नियमो निगमोक्तः ॥ ६३ ॥

ये विहाय निगमोक्तविधानं ।
मानवीषु रचनासु यतन्ते ॥
स्पष्टमेव नरकेषु निदेशा-
त्ते पतंति जगतामधिपस्य ॥ ६४ ॥

नैव तिष्ठति जनो यदि पूर्वां ।
पश्चिमामपि समेति न संध्याम् ॥
शूद्रवत्स निखिलद्विजकार्या-
द्दूरमस्त्विति मनुर्वदतीदम् ॥ ६५ ॥

कृत्यमेक मिदमाध्य मनेक-
स्वार्थकारि परमार्थ समेतम् ॥
दर्शयत्य विरतं कृतमीशं
सर्वभूतनिलयं लघुमर्त्यान् ॥ ६६ ॥

सेवनीय मत एव मनुष्यै-
र्भूतले तदिदमन्यदतस्तत् ॥
प्रत्यहं नियमतोऽग्निविधानं
साधनीय मधिकोन्नतिचित्तैः ॥ ६७ ॥

पूजनं यदतिथे र्जलभोज्य-
स्वागतादिभि रुपैति तदेव ॥
धर्मसूक्ष्मगमना द्विधिभावं ।
दृश्यतां जगति वेदविधानम् ॥ ६८ ॥

भागशः कृतगृहोदरभोज्या-
स्तत्प्रयांति फलमत्र जगत्याम् ॥
यन्न यांति शतशोपि समेताः
पामरा विधिविहीनमतज्ञाः ॥ ६९ ॥

वैश्वदेव विधिरेष विशेषा ।
वेषतो वदति भूतलभाजाम् ॥
मत्कृपैव शरणं भरणं वा ।
नान्यथा गतिरिति ह्यभिज्ञा ॥ ७० ॥

सन्ति किन्न भवनेष्विह सूनाः
पंच याः प्रतिदिनं कलयंति ॥
प्रार्थितार्थशमनं बत पापं ।
सर्वथैव निरयंगमतापम् ॥ ७१ ॥

तन्निवारणकृते कृतिदक्षै-
र्वैश्वदेवविधि रेव समुक्तः ॥
सेव्यतां मत इहस्थमहेच्छैः ।
सादरं गुणपथेषु कृतेच्छैः ॥ ७२ ॥

मातुरार्यजनकस्य यथाव-
त्पूजनं जगति जीवनभाजः ॥

पितृयज्ञमुदितं निगमज्ञै-
र्यद्धजन्न मनुजः पततीह ॥ ७३ ॥

मूढबुद्धिभि रनर्गलमत्त्या
जीवतां यजनमत्र विहाय ॥
स्वर्गतात्मसुखसिद्धि कृतेन्नं
दीयते जगति तन्न समेति ॥ ७४ ॥

यान्तु नामकबलानि कथं तान् ।
प्राणिनो जगति ये वपुरत्र ॥
सत्वरं किल विहाय समेताः ।
कर्मभोग भजनाय नु गर्भम् ॥ ७५ ॥

तर्कविस्तृतिबलेन विधेर्वा
सत्प्रमाणनिचयेन समृद्धा ॥
सर्वथा जगति जीवति पूजा ।
बांधवे न यमपाशमुपेते ॥ ७६ ॥

पंचधेति यजनं निगमोक्तं ।
ये जना जगति जन्म समेत्य ॥
धारयंति न कदापि पुनस्ते ।
वीक्षयन्ति नरकं नवकष्टम् ॥ ७७ ॥

संतति र्भवति धर्मसमृद्धा ।
यज्ञतो भुवि न चित्रमदोपि ॥
दृश्यते महितरामकथा सा ।
मानमत्र महतामपि मान्या ॥ ७८ ॥

रामभद्रसदृशी यदि लोके ।
संभवेदिति समस्ति मनीषा ॥
संततिस्तदिह वेदसमुक्तं ।
कार्यमेव यजनं नियमज्ञैः ॥ ७९ ॥

गर्भतः प्रभृति यात्मसुखार्थे ।
संस्कृति जगति वेदमुखोक्ता ॥
धार्यते जनवरै र्यजनं सा ।
याति नात्रकथनं बहुयुक्तम् ॥ ८० ॥

सर्व एव समये समये ते ।
मानवैरुपचिताः स्वयमेव ॥
साधयन्ति जगता मनुभूत्यै ।
साधनानि परमात्मसुखानि ॥ ८१ ॥

नाधुना सुखमुपैति मनुष्या-
न्नैव वर्षति घनोपि घनाभः ॥
सस्यसंततिरपीह न मेता ।
मोदयत्यविरतं मनुजानाम् ॥ ८२ ॥

कारणं वदत कोविदवर्याः ।
यूयमेव विषयेत्र न चेन्मे ॥
चेतसि प्रतिनिविष्टमुदारं ।
हेतुमात्मनि नयंतु चिराय ॥ ८३ ॥

मन्मते सकलसौख्यनिदानं ।
कारणं नवनवाम्बुदपंक्तेः ॥

सादरं यजनमत्र न लोके ।
जायते निगममंत्रशतेन ॥ ८४ ॥

सम्यगग्निवदने विनिविष्टा ।
साऽऽहुति र्व्रजति सूर्य मधस्तात् ॥
भानुमंडलगता नवमेघा-
नेति वर्षणकृते मनुनोक्तम् ॥ ८५ ॥

वर्षणे सति समस्तरसाया-
मुद्गतानि फलमूलमयानि ॥
साधनानि सुखयंति मनुष्या-
नंडजानुत पशूनपि सर्वान् ॥ ८६ ॥

नैव यापयति लाभ ममुष्मिन् ।
भूतलेऽशित महो लघु तावत् ॥
यावदग्निवदने हुतमारा-
द्वीक्ष्यतां सहृदयैः स्वयमेतत् ॥ ८७ ॥

आज्य मल्पमपि बर्हिषि दत्तं ।
पुष्कलामटति सिद्धिमितीव ॥
हूयते जनवरैरधुनापि-
प्रायशो जगति वेदपथज्ञैः ॥ ८८ ॥

यज्ञतो भवति मारुतशुद्धि-
र्वारिशुद्धि रथ भूतलशुद्धिः ॥
स्वात्मशुद्धिरपि नात्र विवाद-
स्तर्जितान्य गुणवा न्न च वादः ॥ ८९ ॥

सर्वथास्ति जगतीतलमध्ये ।
हानिरेव यदिनो यजनं तत् ॥
पूर्णतापि गुरु गौरव गर्भा ।
सर्वदात्र यदि सद्यजनं तत् ॥ १० ॥

ईश्वरोक्तनियमस्य जगत्यां ।
पालनाय निगमोक्तविधेर्वा ॥
दीयतां पद मयं मम भावो ।
विद्यतेऽत्र कथने न ततोन्यः ॥ ११ ॥

प्राक्तनेऽत्र समये भुवि यज्ञै-
र्धूपितेषु भवनेषु सकामा ॥
वस्तुमार्यनामिता भवदारा-
ड्भार्गवी गुणवशी कृतभूतिः ॥ १२ ॥

नाभवत्किमपि तादृश गेहं ।
यत्र यज्ञकरणाय कृतेच्छाः ॥
प्रावसन्न मुनयो गतकाले ।
का कथान्यमनुजानुगतीनाम् ॥ १३ ॥

तत्प्रभाववशतो न हि रोगाः ।
प्राभवन्न भुवने धनहीनाः ॥
पुत्रपौत्रपशुहीनकुलानां ।
नाममात्रमपि नात्र तदासीत् ॥ १४ ॥

नाशितं यदवधे भुवि लोकै-
रत्र देवयजनं गतधीभिः ॥

सर्वथा तदवबोधमुपयातं ।
नाशमेव सकलं निजशर्म ॥ ९५ ॥

नष्टसौख्य मवलोक्य समस्तं ।
भारतोद्धरणदत्तशरीरः ॥
सोऽत्र भूमिवलये जनिमागा-
द्यो बभूव विदुषामतिमान्यः ॥ ९६ ॥

सर्वथा तदनुकूल मिदानी-
मादराद्गुरुकुले जनवर्यैः ॥
कर्मकार्यमिति केवलमंते ।
वाच्यमस्ति न परं किमपीह ॥ ९७ ॥

नाहमस्मि कथने बहुशक्तः ।
केवलं भवदनुग्रहपात्रम् ॥
सेवकोऽस्मि सकलार्यजनानां ।
तर्जितान्यमतवादपराणाम् ॥ ९८ ॥

यत्किमप्यनुचितं विषमं वा ।
सेवकेन मयकात्र सुखेन ॥
वर्णितं भवतु तद्गुणभाजां ।
शर्मणे विरचितं स्वनिबंधे ॥ ९९ ॥

एतदेव विनिवेदयतान्ते ।
स्वागतं विदधता नवपद्यैः ॥

---

१ महर्षि दयानन्दः

स्थीयते परिषदर्पितदेशे ।
भावपूर्णमनसा विबुधानाम् ॥ १०० ॥

॥ इति ॥

श्री० गौरीशङ्कर व्यासप्रणीतम्

तोरणबन्ध चित्रम् ।

दर्शेयं भूरिसन्ता पा त नुते खेदगौरवम् ।
भोगाचिन्तासभा प ब्जं हृ दे तन्नाऽस्ति यत्क्वति (१)

नार्य्या क्लेशस्य कु ण्डेऽपि सुग मं मज्जनं जनः ।
मत्वा धत्तेऽ ब्ज सानन्दं परिणा मे च खिद्यति (२)

पराव र ज्ञानिर्णीतं पन्थानं भ्र म वर्जितम् ।
दार पु त्रादिमोहान्धो नेक्षते बन्ध नो न्मुखः (३)

नृस ञ्जा तोऽपि सम्भ्रान्तो मूढोऽयं काम दे वतः ।
अङ्ग नां वीक्षतेऽमन्दं मकरो बडि श यथा (४)

एष मृ त्युर्महाव्याधः कुरङ्गीच त न्वियम् ।
ईदृ ग त्यन्तघोरेऽस्मिन् सम्बन्धे को न त स्यति (५)

जरा यां वर्तमानोऽपि प्रौढतृष्णात्र नं गतः ।
नर त्वं दूषयन् शुभ्रं विषयेष्वेव नृ त्यति (६)

विनि ध्याक्षसंचारं सेवनीयं म हृ त्तमम् ।
एके दी नार्तिहन्तारं हरिं स्मृत्वा वि रे जिरे (७)

तद्ग च्छ स्वान्त तूर्णं त्वं त्यक्त्वा संसार वि स्तरम् ।
मुक्ति सि द्धिं हरेःपादं रक्षितुं स हि श क्ष्यति (८)

अगणितजननक्रमासक्त मुग्रान्धकारं सदैवापनेतुं मनोदेशतः ।
अपि च वितरणाय योऽलंप्रकाशस्य बुद्धेर्गुरोःपाद एषोऽहितंनाशयन् ॥
अनुदिनमुदयंभजन्नापि साम्यं स तस्यैति नैशं तमः केवलं संहरन् ।
रविरमितगुणो यतोनेतरैः शक्यते तीव्रयत्नाऽधिरूढै रपि स्पर्धितुम् ॥१॥

किमिदममलमम्बुजं मानसानन्दहेतौ निविष्टं प्रतिष्ठायुतंभूतले ।
किमुत शरदनेहसि स्वच्छगौराङ्गयष्टि र्विराजन्नयं राजहंसो गिरः ॥
किमुकलिकलुषापनोदी प्रवाहश्चकासद्दिवोनिम्नगायाः प्रदेशेऽखिले ।
निरचिनवमितीवसंशय्यपूर्वं विवेकोपदेशे गुरोः पाद इत्येषकः ॥२॥

———

धनुर्बन्ध चित्रम् ।

नि छाशून्यं भ्रमत्येतन्मानसं भोगभावु कम् ।
प र द्रोहसमासक्तं शोगमेत्यपक र्ष कम् (१)
अथ चै नभ्रमःपुष्पं लिप्सु सौख्यं प्र क ल्पते ।
सन्मानु षं विदश्चापि ग्रहणं त स्य याचते (२)
याञ्चया क श्चि देतस्य बुद्ध्याऽभ्य स्त सदागमः ।
अवरुद्धः क रं न्यस्य करे ह न्त्यात्मपौरुषम् (३)
केचिदेनेन र चि तै र्दै मो त्थानविरोधिभिः ।
पाशैः स्वमेव सि न्व न्तो म न्यो रशनतामगुः (४)
कोऽपि कश्चे लस न्गु अ न्त न्व श्रानन्दमात्मनि ।
अलि र्यथास्ति सं रु न्धन् व र्धि तोत्साह उद्गतिम् (५)
कश्चिद्दापात म न्दार माश्रा लि भुजगीवृतम् ।
संसारव न्तु लं नैति च्छायार्थं म तिमन्थरः (६)
दुरवा प हरिं ध्यायन्कानने व ह्नि माश्रितः ।
कोऽपि दा रसमाश्लेषं विस्मरन्सम व स्थितः (७)
अ म्बु दाभं हरिं यन्तु सुखदं पाश्वभौ ति काः ।
म म्बालसममोहस्य नोचेद्बुद्ध्या समाग मः (८)

॥ ओ३म् ॥

प्रार्थना

तारय पारमपार ! महेश्वर !

दुःखगभीरे संसृतिनीरे पालय मामविकार !

नूनमसारे जनसंसारे रक्षय मामतिभार !

नयनयुगम्मम कुरु सुखसंगममतिविकलन्त्वमुदार !

तव गुणगाने जगदसमाने लगतु वचो गुणसार !

तव महिमा वचसामगमः स च कृतबहुजगदुपकार !

लसतु सपापे मनसि विजापे मम शुभसकलाधार !

उदयति वाला रविकरमाला हरिदिशि विगताकार !

तव महिमानं जगदसमानं कथयति निखिलविसार !

नभसि भवान्भव ! बहुभुजवानिव सकल जगन्ति दधार !

निखिलजनानपि पशुशकुनानपि सदयदृशैव बभार !

तव गुणपङ्कजसौरभसङ्गजमोदभृताः सुखसार !

योगिजना यं यान्ति गुणान्तं प्रापय मां तमपार !

ओ३म् ।

हरिद्वार-गुरुकुले चतुर्थे सरस्वतीसम्मेलने

सभापतेः

अभिभाषणम्

भद्रा भ्रातरः,

प्रीतिविस्रम्भगर्भाः साधुवादाः श्रीमद्भ्यः परः सहस्राः । नूनमतिमहान् खल्वयं मानः प्रदर्शितः श्रीमद्भिः प्रदायेदं मे सभापतेरासनम् । इदन्तु मे साम्प्रतं सज्जनपरिषदमेतामवलोकयतः समुदेति चेतसि यद् ध्रुवमतिमात्रं सुप्रसन्ना मे भगवती भवितव्यता, कथमन्यथा सत्स्वप्यन्येषु विद्यावयोभ्यामुभाभ्यामपि वृद्धतरेषु सुविश्रुतेषु बहुश्रुतेषु पण्डितप्रकाण्डेषु सर्वथैव तैस्तैर्गुणै र्विरहितोऽप्ययं जन ईदृशमप्यासनमधिगच्छेत् ? ध्रुवं कलङ्कितमिव संवृत्तमद्येदमासनं मत्सम्पर्कात् यद्धि पूर्वमासीदलङ्कृतं समुद्भासितं च तैस्तैर्महत्तरैर्मनीषिभिः । श्रीमन्तः, नायं प्रदर्श्यते विनयः, न वाप्यनुस्रियत आचारः शिष्टानां, यत्सत्यं प्रकामं खल्विदं जिह्रेति च बिभेति च चित्तं मे पदमिह प्रसारयतः । सत्यप्येवं भोः सभास्तारमहाभागाः, भवतां नियोगोऽयमनतिपात्य इति कथं कथमपि विनीतेन चेतसा तत्परिपालनाय यथामति प्रवृत्तोऽस्मि ।

भद्रं वो भ्रातरः, यत्सम्बन्धात् सम्मिलितेयं महती समितिः, यदभ्युदयार्थं चायं प्रक्रान्तोऽत्र महानुत्सवः, तदिदं गुरुकुलं नामाद्य

कस्य खलु भारतीयस्य च भारतहितैषिणश्च भावुकजनस्य चित्तं नात्यन्तमाकर्षति ? संस्करणीया पद्धतिः शिक्षाया भारतीयानामिति सर्वत्रैवेदानीं जनपदनगरग्रामपल्लीषु श्रूयते च चिन्त्यते च । गीयते च सादरानन्दं तत्र तत्र नामधेयं गुरुकुलस्य । नेदं प्राचीनं, नह्यस्य सम्प्रत्यपि वत्सरदशकादधिकं वयः । परन्त्वेतैः स्वल्पैरेव वासरैस्त-थैवहि किञ्चित् प्रक्रान्तमनेनानुष्ठातुं येन केव कथा नेदीयसां, ननु दवीयसामपि सह नयनेन हृदयमिह समाकृष्यते । श्रीमन्तः, पृ-च्छामि तावत्, किं नु खल्विदं तत् स्यादिति ।

नेदं न विदितं वः सर्वेषां यत् साम्प्रतं भारतस्य प्राच्येषु च प्रतीच्येषु च, उदीच्येषु च अवाच्येषु च सर्वेष्वेव जनपदेषु, यत्र तत्र बृहतां वा, मध्यमानां वा, क्षुद्राणामेव वा नवनवानां ब्रह्मचर्यानुशी-लनप्रयोजनानाम् आश्रमविशेषाणां नामधेयान्याकर्ण्यन्ते । अस्ति हि वङ्गेषु सुगृहीतनामधेयस्य श्रीमतो रवीन्द्रनाथस्य ब्रह्मचर्याश्रमः, स्वा-मिनश्च श्रीमतः पूर्णानन्दस्य "जगत्पुराश्रमः", श्रूयते वाराणस्यां "विश्वनाथब्रह्मचर्याश्रमः," विद्यते बड़ौदाराज्ये "गङ्गानाथभारती-यसर्वविद्यालयः," वर्त्तते अस्यैव श्रीहरिद्वारक्षेत्रस्यान्यत्र "ऋषिकुलं" नामाश्रमः, भवति श्रुतिपथातिथिः । श्रीहृषीकेशक्षेत्रे कश्चिद् वान-प्रस्थाश्रमः, सन्ति प्रभवत आर्यसमाजस्य सूर्यखण्डप्रभृतिषु (Dt. Badaun) स्थानेषु षड् विद्यालयाः, इदं चैकमेतस्यैव बृहत्तरं गुरुकुलं सर्वे वयमिदानीमधितिष्ठाम इति दृश्यत एव ।

श्रीमन्तःपुनरप्यत्राहं पृच्छामि—कोऽयमध्यवसाय एषां प्रतिष्ठा-पयितॄणां ? कस्तेषामभिप्रायः ? किं नु खलु ते सिषाधयिषन्त्येतैः ?

कं नामापूर्यमाणं मनोरथं ते परिपूरयितुमिच्छन्त्येते: ? ननु नास्ति खल्विदानीं बालानां न: शिक्षाप्रदानोपाय: ? न विद्यन्ते नाम प्रभूततरैर्द्रविणसम्भारैः प्रतिष्ठापितास्तत्र तत्र महान्तो विद्यालया: ? न वा तेषु भारतीयानां बालकानां सम्पद्यते विद्याधिगम: ?

ये हीदृशानामाश्रमाणां पक्षपातिनः, नूनं ते तान्प्रश्नानित्थं प्रतिब्रूयुः—न निष्फलो ऽङ्ग, अध्यवसायोऽयमस्माकम् अस्त्येवास्माकं कश्चिद् हृदयनिगूढोऽभिप्राय:, यो हि निपुणतरैरेव सुविचिन्त्याधिगन्तव्य: । ननु वयमत्युपादेयं प्रयोजनविशेषं साधयितुमिच्छाम: । को नाम ब्रवीति—न विद्यन्ते तादृशा विद्यालया इति ? यत्पुनराशङ्कसे तत्र भारतीयानां बालानां विद्याधिगमो भवति न वेति, तदङ्ग, तथैव, अवितथमेवेदं यत्र तत्र भारतीयानां बालानां विद्याधिगमो भवतीति । विद्येति हि यत् प्रतिपत्तव्यं प्रतिपद्यन्ते च भारतीया:, न तत्सा-र्थो, साम्प्रतिकेषु समपद्यत वा सम्पद्यते वा, संपत्स्यते वा सहस्रेणापि वत्सराणां यदि नाम नैतेषु निपुणमतिभिरुन्नेय: कश्चिद् भारतीयो भाव: प्रतिष्ठाप्येत । नहि कश्चित् स्वकीयं विहाय परकीयं किञ्चिद् आदद्यात, आददानोऽपि वा सम्यगवाप्नुयात् फलं समीहितं । न ह्युत्तमाङ्गम् उष्णीषमुत्सृज्य मञ्जीरमामुञ्चेत्, आमुञ्चद्वा यथोचितं रोचेत । न चैकमेव सर्वेषां श्रेयसे कल्पते । किञ्चिदेव हि कस्यचिदर्थविशेषमुपपादयद् अन्यस्यानर्थाय सम्पद्यते मतिमन्त एव च तदवगच्छन्ति, अवगत्य च ग्राह्येषु विषयेष्वर्थमुपादाय दूरं विजहत्यनर्थम् । मन्दमतयस्तु दृष्ट्वैव विमुह्यमाना नार्थानर्थं विवेक्तुं प्रभवन्ति, अकल्याणमपि च भास्वरबाहिरावरणानिगूढं कल्याणमिति गणयन्ति च गृह्णन्ति च गृहीत्वा च परिणतं किम्पाकफलमिव सेवमाना विप्र-

लब्धाः प्रकाममनुतप्यन्ते । प्रयतन्ते च ततः प्रभृत्यप्रमत्ताः सुविचार्य यथार्थ मेवोपादातुं कल्याणम् ।

वर्त्तमानेष्वपि परःसहस्रेषु पाश्चात्त्यपद्धतिपरिचालितेषु पाठालयेषु यत्साम्प्रतं भारतस्य स्वकीयया पद्धत्या तत्र तत्र केचिन्नूतनतरा पाठागाराः स्थापिताश्च स्थाप्यन्ते च, चिन्त्यन्ते च स्थापयितुम्, तन्मन्ये, प्रबुद्धानीदानीं चेतांसि भारतवर्षीयाणाम्, उन्मीलितानि नयनकुवलयान्येतेषां, अपसृता चासौ परिणतिविरसा निद्रा, दूरतरमपक्रान्ता चैषां भ्रान्तिपिशाचिका यया हन्त प्रसह्याक्रान्तास्ते विनिपातमेव प्रयातुमुपक्रान्तवन्तः तथैव हि ते कांश्चित् कालान् पाश्चात्त्यभावरूपेण क्रूरग्रहेण न्यगृह्यन्त, यथा नात्मानमपि स्मर्त्तुमशक्नुवन्, यथा यथा चायमनर्त्तयत्, तथा तथैव तेऽप्यनृत्यन्, तत्तदेव च निर्विचारमगृह्णन् यद्यदेष प्रादर्शयत् तेभ्यः ।

भूयान् खलु भेदो भारतस्य पाश्चात्यभूम्या । तथाहि, युक्तमुक्तं कुत्रचित् श्रीमता रवीन्द्रनाथेन, पाश्चात्त्यभूमौ किल नगरात् सभ्यत्वलक्ष्मीरुल्लसति, भारते तु वनादेव तदुद्भवः, तत्र किल वसनभूषणसमलङ्कृता एव गौरवमधिगच्छन्ति, अत्र तु तद्विरहितानां स्वीकृतभिक्षाचर्याणामेव गौरवम्; तत्र हि अरण्यमधितिष्ठन्तः पशुभावमवाप्नुवन्ति, इह तु आरण्यका एव दैवीं सम्पदमधिगच्छन्तीति । किञ्च तत्र हि विषयाणां भोगमेव परमुपादेयं मन्यन्ते, इह तु त्यागमेव बाल्यात् प्रभृति शिक्षन्ते; तत्र हि विकलेष्वपि तेषु, तेष्विन्द्रियेषु, गलितेष्वपि दशनमुकुलेषु, पलितधवलेष्वपि केशकलापेषु, शीर्यत्स्वपि च कलेवरसंस्थानेषु तत्प्रतीकारमेव चिन्तयन्ति, चिन्तयित्वा च समुद्भाव्य साधनविशेषं पुनस्तमुपाददानाः—

"इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥"

इत्यादि श्रीमद्भगवद्गीतोक्तन्यायेन । प्रलयान्तामपरिमेयां चिन्तामुपाश्रिता एतावदेव सर्वमिति च कृतनिश्चयाः कामोपभोगपरमाः निराक्रियमाणा अपि सनिर्बन्धं तैस्तैः शक्तिहीनैरिन्द्रियादिभिर्भूयो-भूयः संसारभावेष्वेव प्रवर्त्तन्ते, इह पुनर्नियोगोऽयं भगवत इति मन्वानाः नत्वभिसन्दधानाः कामोपभोगम् अनुभूय कञ्चित् कालं गार्हस्थ्याश्रमम् अविकलेष्वेव तिष्ठत्सु इन्द्रियादिषु सानन्दं सर्वं विहाय पुण्यारण्यं समाश्रयन्ति । किं बहुना, ते हि पाश्चात्त्य-भूम्यधिवासिनो व्यवहारतो वाणिज्यसंग्रामाद्यैः साधनैर्वित्तमेव परं पुरुषार्थं गणयन्तो दृश्यन्ते, तदर्थं च कामं वराको न्यायो-ऽन्यायो भवतु, धर्मश्चाधर्म न तेषां किञ्चिच्छिद्यते । भारतीयास्तु वित्तं तृणायैव मन्यमाना अमृतत्वमिति किञ्चित् कामयन्ते ।

सेयं पाश्चात्त्यानामापातरमणीया स्वनिसर्गसिद्धा संसारसरणिः प्रकाशमानापि मोहविलसिताद्वा, कालप्रभावाद्वा, अधन्यत्वाद्वा भवित-व्यताया एव तथात्वाद्वा भारतीयैरसकृदवलोक्यापि दीर्घं कालं न सम्यगवबुद्धा । इदानीन्तु सुकृतपरिपाकात् सर्वमेव दृश्यते च बुध्यते च, बुद्ध्वा च परकीयं पन्थानं परित्यज्य नैसर्गिकः स्वकीय एवो-पादीयते इति कस्य नाम भारतीयमानिनो मानसं नातितमामानन्द-मनुभवेत् !

श्रीमन्तः, नहि कश्चित् प्रकृतिस्थो मृतमात्मानं कामयते । मरणं नाम भीष्मं कष्टं शरीरिणाम् । अतएव हि भारतीया निपुणं

विचार्य अमृतत्वमेव कामयाञ्चक्रिरे । तच्चापरैषां सम्भावयितुमप्यशक्यं सूपलब्धं भारतवर्षीयाणाम् । कियती मात्रा चेदं वित्तं नाम तस्य खल्वमृतत्वस्याग्रे ? तदिदमुद्गीतमृषिभिः श्रुतिशिरोवाक्यैः ।

"सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् स्यांन्वहं तेनामृताहो नेति ।"

युक्तञ्चात्र प्रत्यब्रवीद् याज्ञऽवल्क्यः—तदुक्तम् "नेतिहोवाच—याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्, अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ।"

अथ किमवोचन्मैत्रेयी ? उक्तं तदपि तत्रैवः—

"सा होवाच मैत्रेयी, येनाहं-नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम् ? यदेव मे भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति ।"

बृहदारण्यक. २.४.२—३;४.५.३.४.

अतएव भारते ब्राह्मणाः, सौगताः, आर्हताश्चेति सर्व एवैकमत्येन तत्तादृशैरतिप्रपञ्चितैर्निबन्धैः कामत्यागं जनानामुपदिदिशुः । अयं तावद् ब्राह्मणवादः—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥"

बृहदारण्यक. ४. ४. ७ ।

कथञ्चेदमधिगन्तव्यममृतत्वमिति त एव हि ऋषयः पृष्टा व्याकुर्युः, त एव हि तत्र प्रभवन्ति, त एव हि तदधिगतवन्तः । न खल्वन्धो मार्गमुपदेष्टुमलम्, उपादिशन् वा यथापेक्षितमुपदिशति,

शक्नोति वा कश्चित् तदुपदिष्टं मार्गमनुसरन् अव्यभिचारेण गन्तुं गन्तव्यम् ।

यदि नामामृतत्वमेवः सर्वतः श्रेष्ठं च महिष्ठं च मन्येत, तर्हीदमप्यवश्यं मन्तव्यं यन्नेदमनायासेन लीलया वा शक्यमधिगन्तुमिति । प्रकृतिरेवेयं श्रेष्ठस्य च महिष्ठस्य च यत्तदधिगमाय प्राज्यः प्रयासः, प्रभूतः खेदः प्रकृष्टश्च दुःखाभिघातः सोढव्यः । एतैरेव ह्यधिगतस्य वस्तुनः समेधते माधुर्यं, संवर्धते च सौंदर्यं । किंबहुना, एतदेव हि वस्तुनो महिमानमुत्पादयति । तदङ्ग, स्वप्नेऽपि न कल्पयितव्यं यदस्य सर्वातिशायिनोऽमृतत्वस्य पन्था नाम सुगमो भवेदिति । ददिदमप्युक्तमृषिभिः—

> "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्या ।
> दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्तीति ॥"

कठोप. १. ३. १४ ।

यतश्चायं दुर्गः पन्थाः तत एवास्माभिरुत्थातव्यं च जागरितव्यं च जागरित्वा च लब्धव्यास्ते वरणीया महात्मानस्तस्य खलु दुर्गस्य पथ उपदेशकाः । तादृगेव हि स कश्चिदयं पदार्थः, यं खलु बहवः श्रोतुमपि तावन्न लभेरन्, शृण्वन्तोऽपि च बहवो नैनमवबुध्येरन् । तथाविधो ह्येवायं गम्भीरः पदार्थः । तथाभूतोऽपि चायमवश्यमधिगन्तव्यः श्रेयःप्रेप्सुभिः न पुनर्भीतेन चेतसा परिहेयः ।

अद्यत्वे हि यः किल कश्चिद् यां काञ्चिदेकां शिल्पवाणिज्यादिकां लौकिकीं विद्यामधिचिकीर्षति, सोऽपि हन्त कियतो नाम वत्सरानतिवाहयति अतिवाह्यापि च कदाचित् समीहितं फलं नाप्य-

वाप्नोति । यदि नामैतादृश्यां लघीयस्यामपरस्यामेव विद्यायामेषा गतिः, तर्हि किमु वक्तव्यमङ्ग, अणोरप्यणीयसो महतोऽपि च महीयस्तस्य खल्वमृतत्त्वप्रदस्य अमृतस्य पूरुषस्य प्रापिकायां परस्यां विद्यायाम् ? अतोऽवश्यं सर्वैः स्वीकर्त्तव्यं यत् तत्कृते यावज्जीवमेव प्रयतनीयमिति । बाल्यादेव च तदर्थमनुकूलं तत्तद्व्रतमवश्यमाचरणीयमिति ।

इत्थं च सति यस्य किल वस्तुनो वक्ता च ज्ञाता चेत्युभावप्याश्चर्यभूतौ, कुशल एव हि जनो यदुपदेष्टुं शक्नोति, कुशलादेवाचाचर्याद् लब्धोपदेश आत्मनोऽपि कुशलत्वमेव सम्पाद्य यत्प्रभवत्यधिगन्तुं, तस्य खल्वमृतरूपस्याधिगमाय पूरुषेण तादृश एव कुशल आचार्य उपगन्तव्यः, उपगम्य च तेन तद्वचनास्थितेन स्वकुशलत्वसिद्धये तदुपदिष्टमेवाचरणीयमित्यनुक्तमपि सुकरमेवावबोद्धुं सर्वैरपि ।

ततश्च यं नामायं बाल्ये वयसि वर्त्तमानोऽमृतार्थी अमृतत्वार्थी वा (अनवबुध्यमानोऽपि तदानीमात्मनस्तममुं चरमं पुमर्थम्) उपगच्छति आचार्य इत्येष प्रसिद्धः । यच्चायं तदुपदेशास्थित आचरति ब्रह्मचर्य नाम तत् । यस्मिंश्चायं कांश्चित् कालान् वर्त्तमानस्तदाचरति आचार्यकुलं तत् । यः पुनरयं तथा तदाचरति ब्रह्मचरि खल्वेष इत्युच्यते ।

श्रीमन्तः, यत्सत्यमतितरां पावनान्येतानि चत्वारि पदानि आचार्यश्च, आचार्यकुलंच, ब्रह्मचारी च, ब्रह्मचर्यं चेति । अतिगम्भीरमतिरमणीयं चार्थविशेषं प्रतिपादयन्त्येतानि, प्रकाशयन्ति

चावैदिककालात कमप्यतिगौरवं महिमानं भारतीयानामार्याणाम् । अचिन्तितचरमचिन्तनीयं चैतेषां तत्त्वमन्यत्र भारतवर्षात् । सर्वस्वमिवास्मिन् पदचतुष्टये निहितमेतेषाम् ततश्च विनष्ट एतस्मिन् सर्वमेव विनष्टमिति मन्तव्यम् । परीक्षन्तां चेदं प्रेक्षावन्त इत्यवश्यमहं ब्रूयाम् ।

श्रीमन्तः, ब्रह्मचर्यमिति कियती नाम शक्तिःप्रतिपादयिषिता तैर्भवद्भिर्महर्षिभिरिति नास्मादृशां वचनेन युक्तमुदाहर्तुमिति ब्राह्मणतस्तेषामेव पुण्यं वचनमुपन्यस्यते । तथाहि शतपथब्राह्मणे (११. ३. ६. १)—

"ब्रह्म हवै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत् ।
तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत् ॥" इति ।

तदेव चोक्तं गोपथेऽपि (पूर्व. २. ६)—

"ब्रह्म हवै प्रजा मृत्यवे सम्प्रयच्छत् ।
ब्रह्मचारिणमेव न सम्प्रददौ ॥" इति ।

मूलं चास्य संहितायामपि दृश्यते । यथाः—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ॥" इति
अथ. स. ११. ३. ३. १९. ।

नायमर्थोऽध्वरमीमांसकानाम् अर्थवादन्यायेन विध्यर्थस्तावकतया गृहीत्वा लाघवं प्रापणीयः । शक्यते हि स्पष्टमेव ब्रह्मचर्यरूपेण तपसा मृत्युरपहन्तुम् अधिगन्तुं चामृतम् । अतिरोहितश्चायमर्थः समनुशीलितौपनिषदवचनानां परीक्षकाणाम् । दृश्यते हि प्रायः सर्वत्रैव श्रुतिशिरोवाक्येषु सत्यध्यात्मविद्याप्रसङ्गे " वस ब्रह्मच-

र्थम्* इत्याद्युपदेशेन ब्रह्मचर्यविधिः । अत एव हि ते महर्षयः सर्व एव समाचरन् ब्रह्मचर्यं समादिशंश्च तदनुष्ठानाय स्वपरवर्तिभ्यः पुरुषेभ्यः । अतएव च सर्वे धर्मसूत्रकारा ऐकमत्येन तत्परिपठन्ति । अद्यत्वेऽपि, काममस्तु विकृतं, तथाप्येतत् समनुसरन्त्येव सन्तः । तथा चायं न केवलं कश्चिद् याद्दाच्छिकः सामाजिक आचार इति मन्तव्यम् । अथ मन्येमहि दौर्भाग्यमेवास्माकं तदित्यवबुध्येमहि, न खल्ववबुद्धमस्माभिस्तत्तत्वमिति विप्रलब्धाःस्म इति च ब्रुवीमहि ।

न केवलमध्यात्मदृष्ट्यैव ब्रह्मचर्यस्येयान् महिमा सङ्कीर्त्यते । नन्वस्त्येवास्य लोकदृष्ट्यापि सुमहानुपयोगः । न पुनरेष भूयस्त्वभिया साम्प्रतमिह विस्तरशो व्याख्येय इति दिङ्मात्रं किञ्चित् प्रस्तूयते ।

यदद्यत्वे वयं शिक्षा शिक्षेति गगनाङ्गनमपि भिन्दानेन कण्ठध्वानेना रात्रिन्दिवमुच्चैराक्रन्दामः, ब्रह्मचर्यमेव हि तत् प्राचामाचार्याणाम् । यच्च नाम साम्प्रातिकानां तेषु तेषु देशेषु नियतशिक्षेति (Compulsory education) श्रूयते, तदपि नान्यत् किञ्चिद् भारतीयानां ब्रह्मचर्यतः । को नाम न वेत्त्यस्माकमुपनयन संस्कारम् । केचित्त्वेनं कस्यापि सूत्रस्य धारणमिति व्याचक्षते, तत् कस्य हेतोरिति त एव जानन्ति । अथवा न तेषामपराधः । अवितथमेवैतत्, तथैव हि वयमिदानीं संवृत्ताः ! सूत्रधारणेनैव हि पूर्यतेऽस्माकमुपनयनं,

*छान्दोग्य. ६. १. १; ३. ४. ३; ५. १; ७. ३; ११; ३; गोपथ. पूर्व २. ५; प्रश्नोप. १; २; १३; १५; बृहदा. ६. २. १; ६; २; ४; एवमन्यत्रापि ।

चर्यते च यथोचितं ब्रह्मचर्यम् ! प्राचां पुनर्नैषा मतिरासीत् । यया नामाधिगतया विद्यया पुरुषेण सर्वमेव जीवनं परिचालयितव्यं सम्यक् तस्या अधिगम एव हि प्रारभ्यते उपनयनेन, अभिगम्यते च सा ब्रह्मचर्येण । अतएव पठन्ति धर्मशास्त्रकाराः—

"उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कारः ॥" इति ।

आप. ध. सू. १.१.१.९. ।

तच्चेदं विद्याग्रहणं तत्रैव श्रेयसे सम्पद्यते, यत्रेदमाचरणमनुगच्छेत्; यत्र चानयोर्विद्याग्रहणाचरणयोः संवाद एव, न तु लेशतोऽपि विसंवादो विद्येत । आचारहीना च विद्या पञ्जरशुकपाठसौन्दर्यमेवानुहर्त्तुं प्रभवति, न पुनरुत्पादयितुं श्रेयः पुष्कलम् । यत्र ह्यनुशासनमन्यत्, आचरणं चान्यत्, बन्ध्यैव तत्र विद्या, न सा तत्र किमपि फलं प्रसूते; अथवा न सा बन्ध्या, सापि हि प्रसूत एव फलं, फलंत्वेतद् विषमयमिति पश्यामः । अतएवेदं लोकानामकल्याणाय, न तु कल्याणयेति को नाम नाङ्गीकुर्यात् ?

अतएव हि महर्षयो माणवकान् उपनयनसंस्कारेण तादृशमेव कञ्चित् पूरुषमुपानयन्, यः खलु स्वोपदेष्टव्यमर्थं स्वयमाचरन्नेव तेभ्य उपादिशन् । अतएवायं पूरुषधौरेय आचार्य इत्युच्यते, न पुनः अध्यापक इति वा, उपाध्याय इति वा । महदन्तरं हि अध्यापकोपाध्यायाभ्याम् आचार्यस्य, प्रकाममयमुत्कृष्यते ताभ्याम् । प्रसिद्धं चैतदर्थगौरवमाचार्यशब्दस्य वैदिकेषु वाक्येषु । तदुक्तमथर्वसंहितायाम्:—

"आचार्यो ब्रह्मचारी ।" इति ।

"आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥" इति ।

११. ३. ७.६—७ ।

स्वयमाचार्योऽपि ब्रह्मचर्यनियमस्थो भवतीत्यनेनोच्यते । अतएव भामत्यां (वे. द. १.१.४) सकलदर्शनपारावारपारीणेन श्रीमता वाचस्पतिमिश्रेणोद्धृतं पौराणिकानां वचनमिदं न निर्मूलम्:—

"आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥" इति ।

सङ्गच्छते च निर्वचनं यास्कस्यापि (निरुक्त. १.२२):—

"आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थान् ॥" इति । *

अनयैव च दृष्ट्या व्याख्येयमिदं मानववचनम्—

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥" इति ।

न खलु केवलमध्यापनमात्रादाचार्यत्वं सिध्यति । तथाचाध्यापकमात्रे उपाध्यायमात्रे वा आचार्यशब्दस्य प्रयोगो नाम नूनं तदर्थस्य लघूकरणमेव ।

तथा चैतादृशानामेव आचार्याणां सकाशे ते किल महर्षयो माणवकानुपानैषुः, न पुनरध्यापकानाम् उपाध्यायानां वा । आचार्यस्य कुलं गृहमित्याचार्यकुलम्, तदेव च ते माणवका अध्यवात्सुः;

* एतदेवाभिप्रेत्योक्तम् आपस्तम्बधर्मसूत्रे (१. १. १. १४)—
"यस्माद् धर्मानाचिनोति स आचार्यः" । इति ।

न पुनरध्यापककुलं वा, उपाध्यायकुलं वा। अतएव न क्वापि धर्मशास्त्रेषु अध्यापककुले उपाध्यायकुले वा वटूनां वासः परिपठितो दृश्यते।

आचार्यशब्दस्य तादृशातिगम्भीरार्थप्रकाशकत्वादेव गुरुरिति पदमपि वस्तुतो न तत्पर्यायत्वमर्हति। न खलु शक्नोति गुरुपदं स्वेन महिम्ना तममुं महान्तमर्थमवबोधयितुम्। अतएव च मन्त्रब्राह्मणवाक्येषु आचार्यपदमेव पश्यामो न तु गुरुपदम्। पश्यामश्च तद्गृहस्य नामधेयम् आचार्य कुलम् इति, न तु गुरुकुलमिति। * धर्मशास्त्रकाराश्च प्राचीनतरा बहव आचार्य इति, आचार्यकुलं चेति लिखन्ति † सूत्रयति च पाणिनिरपि सर्वत्राचार्यपदेनैव। ‡

न ब्रूमो गुरुशब्दो गुरुकुलशब्दश्च सर्वथा न श्रूयते न वा स्मर्यत इति। § प्राचीनतरस्तु आचार्याचार्यकुलशब्दयोः प्रयोगः, व्यापकतरश्च कश्चिद् हृद्यमर्थमेतौ सूचयत इति ह्यभिप्रेम।

उद्दिष्टं किल पूर्वं वा देशान्तरीयाणां नियतशिक्षा, सोऽयं भार-

---

* यथा छान्दोग्ये—"प्रापाद्दाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद" (४. ९. १.); "ब्रह्मचार्य्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानम् आचार्यकुलेऽवसादयन्"(२. २३. १.) "स यदहरहराचार्याय कुले ऽनुतिष्ठते"—गोपथ पूर्व. २. ४।

† आप. ध. सू. १. १३. १९।

‡ "आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी" ६. २. ३६; आचार्योपसर्जन श्चान्तेवासिनि," ६. २. १०४; "सम्मननोत्सञ्जनाचार्यकरणेत्यादि," १. ३. ३६; "इन्द्रवरुणेत्यादि," ४. १. ४९।

§ अस्ति हि श्रुतिः—'स तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्," मुण्डकोप. १. २. १२; स्मृतिरपि "समावृत्तस्य भैक्षचर्या तस्य चैव गुरुकुले वासः", बौधा. ध. सू. २. १. २२, एवं १. २. ३०, इत्यादि; "अथ ब्रह्मचारिणां गुरुकुलवासः", विष्णु २८. १३९; तुलः—याज्ञ. १. २. ३४-३५।

तीयानाम् उपनयनपूर्वको ब्रह्मचर्याश्रम एवेति । काममस्त्वयं त्रैव-र्णिक एव, न तथापि चतुर्षु त्रयाणामपि वर्णानां शिक्षानियमनं नाम लघ्वी मात्रा । किञ्चान्तिमोऽपि वर्णोऽध्यगच्छेदेवास्मादुपकारमिति न शक्यं केनाप्यपह्नोतुम् । उपन्यस्तं चात्र महात्मना श्रीदयानन्द-स्वामिनैव (सत्यार्थप्रकाशे) प्रामाणिकं वचनम् । तद्यथा—

"शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमुपनीतमध्यापयेदित्येके ॥"

सुश्रुतसंहितायां किलेदमाम्नायते । ताञ्च संहितामार्षीमिव मानयान्ति वैद्यकविदः । यथा वास्तु नेदमिह सप्रपञ्चां विचारणामर्हति ।

श्रीमन्तः, न खलु न वो विज्ञातं यत् सैव हि नियतशिक्षा नाम या हि कापि निर्दिष्टे वयसि वर्त्तमानेन बालेनावश्यमुपादेया स्यात् । अथ स बालो न तामुपादातुं प्रवर्त्तेत, यथा कथञ्चिज्जनको वा जनकस्थानीयो वा, अवश्यमेनं प्रवर्त्तयेत् । नोचेत् रक्षापुरुषैरागत्य धर्माधिकरणं नयेतास्य तपस्वी जनको वा जनकस्थानीयो वा, द-ण्ड्येत चायं तत्र यथोचितमाधिकरणभोजिभिः । कर्त्तव्यं चैतद् राज्ञो यदेष चारनियोगेन वा भिन्नेनैव वा केनाप्युपायेन स्वराज्ये कुत्र नाम को नाम बालको न पठतीति विजानीयात्, विज्ञाय च कुर्याद् यत् कर्त्तव्यं ततः परम् ।

द्रविण-व्ययोऽप्यावश्यकस्तेनैव कर्त्तव्यः । किं बहुना शिक्षाया नियतत्वं विधाय तस्य विधेर्निर्बाधप्रचलनार्थं यद्यद्विधेयं च चिन्तनीयं च, सर्वं तत् प्राधान्येन राज्ञ एव कर्त्तव्यम्, न तु लोकानां सामाजिकानाम् । सुखं खल्वेते स्वपन्ति । परिपाकः पुनरस्यैवं दृश्यते यत् कृतेऽप्येतावति श्रमे धनक्षये च प्रतिशतकमनेके निरक्षरा बालका विद्यन्ते ।

आर्याणान्तु प्राचीनानां नैवं गतिः । न ते जातुचिन्मेनिरे यत् तनयानां शिक्षासम्पादनकार्यं नाम राजहस्ते न्यस्य निरुद्वेगाः सुखं वयं निद्रास्याम इति । बुबुधिरे ते यन्नेदं तथाविधं किञ्चिद् येन राजानमृते न कथमपि सिध्येत्, प्रत्युत न केवलं सिध्येदेव, अपितु चारुतरं सिध्येत् । अतएव ते चिन्तयामासुरुपनयनं, प्रतिजज्ञुश्च धर्मबुध्या यत् सर्व एव वयं स्वस्वतनयानां तदिदमवश्यं सम्पादयेमेति सर्व एव वयं सोत्साहं सानन्दं च स्वं स्वं तनयमाचार्यकुलं प्रापयेमेति । यथा च तैः प्रतिज्ञातं, तथैव सम्प्रत्यप्यनुष्ठीयत एवेदानीन्तनैः । सर्वस्यैव कवलीकरणप्रवृत्तस्य कालस्य प्रभावात्तु भूयसा तदन्यथाभूतमित्यन्यदेतत् । यावत्पुनरिदमविकृतमासीत् तावदेवेदं विचार्य दृश्यतां यत् कथं नु खलु ते महर्षयो नियमितवन्तः शिक्षाम्, यथा हि ते स्वत एव न तु परतः, अनुरागादेव न पुनर्भयात् स्वस्वान् बालान् निर्दिष्टे वयसि नियमेनैव शिक्षायां प्रावर्त्तयन्, न च तदर्थं रक्षापुरुषाणां वा आधिकरणिकानां वा राज्ञ एव वा साहायकमगृह्णन् । धर्मोऽयमवश्यमनुष्ठेय इति हि समग्रो लोकः प्रतिन चेतसा तं विधिमुररीचकार ।

नैतावन्मात्रम् । साम्प्रतमिहापि भारते पाश्चात्त्यनिदर्शनेन सर्वत्रैव विद्याया विक्रयः प्रवर्त्तमानो दृश्यते । अयन्तु वृत्तान्तस्तत्रभवतामृषीणां स्वप्नेऽपि कदाचिच्चिन्तासरणिं नोपासर्पत् । विद्याया दानमेव तेषां विदितमासीत् न पुनर्विक्रयः । उपनीतेभ्यो हि ब्रह्मचारिभ्य आचार्या विद्यां सम्प्रदत्तवन्तः, न पुनर्विक्रीतवन्तः । *

* अर्थेनाध्यापनमर्वाचीने काले भारतेऽपि प्रवृत्तम् । तदुक्तं विष्णुस्मृतौ (२९. १–२)––"यस्तूपनीय व्रतादेशं कृत्वा वेदमध्यापयेत् तमाचार्यं विद्यात् । यस्त्वेनं मूल्येनाध्यापयेत् तमुपाध्यायमेकदेशं वा ॥"

प्रतिपदमेवोपक्षीयमाणस्य अस्मत्सौभाग्यस्य किञ्चिल्लेशतोऽवशेषात् सम्प्रत्यापि भारते वर्षे तत्र तत्र स्थानेषु धर्मबुध्या विद्यांप्रयच्छन्तो न तु विक्रीणन्तो ब्राह्मणा विद्वांस आयान्त्येव बहुशो नयनपदवीम् । परंत्वहो न पुनरिमेऽपि चिरं द्रक्ष्यन्ते !

आचार्यस्य ब्रह्मचारिणां च प्राणधारणाचिन्तापि न खलु न कृता तैर्महर्षिभिः । अतस्तदर्थमपि ब्रह्मचारिणां द्रविणोत्सर्गेण प्रयोजनं नासीत् । लोक एव हि तदसाधयत् । सामाजिकेभ्यो यदलभ्यत भिक्षया तेनैव आचार्यस्य ब्रह्मचारिणां च सुखमयानि वासराण्यतिक्रामन्ति स्म । यदि लोको भिक्षां नार्पयेत् न सम्भवेत् प्राणयात्रा आचर्यब्रह्मचारिणां, नह्यपरः कश्चित् तथाविधः सुगमः पन्थाः स्यादितिहि विविच्य यथाशक्ति ब्रह्मचारिणेऽवश्यं भिक्षा प्रदेयेति तैरेव विहितम् । अतएव शतपथे (११.२.६.९)—

"अथ यदात्मानं दरिद्रीकृत्येव अह्रीभूत्वाभिक्षते,—स एवं विद्वान् यस्या एव भूयिष्ठं श्लाघेत तां भिक्षेतत्याहुस्तल्लोक्यमिति । स यदन्यां भिक्षितव्यां न विन्देदपि स्वामेवाचार्यजायां भिक्षेताथो मातरमिति ।" गोपथे [पूर्व. २.६.] चोक्तम्—

"ते देवा अब्रुवन् ब्राह्मणो वै ब्रह्मचर्यं चरिष्यति ब्रूतास्मै भिक्षा इति । गृहपतिर्ब्रूत बहु-(ब्रह्म?) चारी गृहपत्न्या इति । किमस्या वृञ्जीताददत्या इति । इष्टापूर्त्तसुकृतद्रविणमवरुन्ध्यादिति । तस्माद् ब्रह्मचारिणेऽहरहर्भिक्षां ददयाद् गृहिणी मेयुरिष्टापूर्त्तसुकृतद्रविणमवरुन्ध्यादिति ।"

न केवलमुदरपूरणमात्रं प्रयोजनं भिक्षाचरणस्येति मन्यामहे,

उपलभ्यते ह्यन्यदपि अत्युदारं प्रयोजनमेतस्य । काहि नाम सा शिक्षा येन नोपक्रियते समाजापरनामको लोकः । अतो या काचिदेव अभिमता शिक्षास्तु यथेयं प्रचार्यते लोके, अवश्यमेव तत्कर्त्तव्यम् । नहि शिक्षार्थी शिक्षां लभमानः केवलमात्मन एवोपकरोति, उपकुर्याद्वा; येन येनायं सम्पृच्यते सम्बध्यते वा, तस्य तस्याप्ययमावहत्येवोपकारम् आवहेच्च । यावद् यावच्चेनमवलोकयेयुः प्रेक्षकाः तावत् तावदेवैतस्य तेऽनुकुर्युः, अनुकृत्य च भूयः श्रेयः समधिगच्छेयुः ।

तथाचाचार्यकुलेषु वा तपोवनेष्वेव वा व्रतमादधानैस्तपस्यद्भिर्ब्रह्मचारिभिर्या किल काचित् पुण्यलक्ष्मीरुपार्ज्यते, तदानीमेवास्या अवगन्तव्यं साफल्यं; यदा सा सर्वेण लोकेन समग्रेण समाजेन सानन्दं च सादरं च स्वीक्रियेत । कुतो वेदमतिमहत् प्रयोजनं सिध्यतु, यदि नाम नैते समनुकरणीया ब्रह्मचारिणः सह लोकेन कथञ्चिदपि संसृज्येरन् , कथं वा ब्रह्मचारिणामपि लोकज्ञानं सम्यक् परिपूर्यताम् ।

ये किल नैष्ठिकब्रह्मचारिणः न यैः कथञ्चिदपि गार्हस्थ्याश्रमश्चिकीर्ष्यते, कामं ते प्रतिरुद्धलोकसञ्चाराः सुखमतिगम्भीरमरण्यमार्गमधितिष्ठन्तु, ये पुनरुपकुर्वाणाः स्नात्वा गार्हस्थ्याश्रमं प्रविशेयुः कथं नु खलु तेषां लोकसम्बन्धः सर्वथैव निवारणीयत्वमर्हति । एष्टव्य एव ह्येषां कियानपि लोकसम्पर्कः । न चैक आचार्यः शक्नुयाज्जातु निरवशेषं लोकतत्त्वमुपदेष्टुम् । न च स्वयमप्येष सर्वं विजानीयात् । नापि सर्वं गुरुमुखात् श्रुत्वैव शिक्ष्यते । अत्यल्पकमेव हि किञ्चिदसुगमं गुरुतः श्रुयते, भूयः पुनः स्वयमेव दृष्ट्वा च

श्रुत्वा च विज्ञायते । न च विच्छिन्ने लोकसम्बन्धे तदिदं सम्भवति । विरुद्धश्च कदाचिन्मुक्तिमासाद्य महान्तमनर्थमृच्छेत् ।

ततश्चेदमपि निपुणमभिसन्धाय प्रवर्त्तिता ब्रह्मचारिणां भिक्षा-चर्या या खलु संहितायाम् (अथ १ स० ११. ३. ७. ९.) अप्युपलभ्यते । सा च ग्राम एवेति धर्मसूत्रेष्विव ब्राह्मणेष्वपि दृश्यते । * अन्यथा पुनर्भिक्षैव नोपपद्येत । गृहपत्न्य एव भिक्षां ददतीति वैदिक-वचनेषु स्पष्टम् । † अतएव ब्राह्मणानां ब्रह्मचारिणः परिव्राजकाश्चैव सौगतानां श्रमणा अपि ग्रामेष्वेव भिक्षाचर्यां चरन्ति । ‡ तथा चैते वर्णितेन प्रकारेण परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्नुवन्ति ।

इह किल केचिन्मन्यन्ते यदाचार्यकुलं नाम रूपान्तरेणावस्थितं कारागृहमेव, यत्र न तातो, न माता; न वा हन्त ते ते बान्धवजना वीक्ष्येरन् , यत्र तादृशोऽति सुकुमारे वयसि वर्त्तमानो बाल-स्तावन्तमतिदीर्घं कालमकामयमानोप्यवश्यमवतिष्ठेतेति ।

नूनं कल्पनैव काचिदेनान् इत्थं मुखरयति । नालोचितमेभिः स्वरूपमाचार्यकुलस्य । आस्तां तावत् प्राचीनानां ग्रामस्थं तपो-वनस्थं वाचार्यकुलम् , साम्प्रतमपि विरलापरजनसञ्चारे कस्मिंश्चित्

---

* "स यदरहर्ग्रामं प्रविश्य भिक्षामेव परीप्सति"—गोपथ- पूर्व. २. ३. । "भिक्षार्थी ग्राममियात् "—गौतमधर्म. ३. १४ ।

† " यस्या एव भूयिष्ठं श्लाघेत ताम् " इत्याद्युक्तं प्राक्, शतपथ. ११. २. ६;९; " तस्माद् ब्रह्मचारिणेऽहरहर्भिक्षां दद्याद् गृहपत्नी"—गोपथ. पूर्व. २. ६; पारस्करगृह्य. २.५.५.-७; बौधायनधर्म. २. ३. २४; मनु. २. १९५, ६. ९६ । एवमनेकम् ।

‡ पाटिमोक्ख, सेखियधम्म. १. ३ वग्ग ।

समठविद्यालये दृष्टमस्माभिः स्वचक्षुषैव यत् पञ्चषवर्षोऽपि बालः सर्वं गृहसम्बन्धं विस्मृत्य सर्वदैव प्रफुल्लेन चेतसा नृत्यंश्च गायंश्च खेलंश्च धावंश्च कालानतिवाहयति पठति च पाठ्यं सानन्दम्। किं बहुना प्रेर्यमाणोऽपि नायं गृहं गन्तुमिच्छति । नैते बान्धवजनार्थं मनागपि दूयन्ते, अपितु तद्वियोगमसहमाना बान्धवजना एव व्यथन्ते इत्यसकृद् दृष्टमस्माभिः । तत्पुनः प्राचीनमाचार्यकुलम् एतादृशात् साम्प्रतिकाद् विद्यालयात् सहस्राधिकगुणमुत्कृष्यते । तत्र हि उपनीतो बटुः पितरमिवाचार्यं, मातरमिवाचार्यपत्नीं, भ्रातराविवचार्यपुत्रौ बन्धूनिव चाचार्यबन्धून् अधिगच्छति । अनुभवति च तत्रापि सर्वं गृहस्नेहम् । तत्रापि च क्षुधासमये ब्रवीत्येवैनमाचार्यपत्नी सादरम्—"ब्रह्मचारिन्, अशान; किं नु नाश्नासीति । " * ततश्च द्वितीय इव गृह एव ब्रह्मचारी निवसतीति का वार्त्ता कारागृहस्य । इदं च ब्रह्मचर्यं न केवलं बालकानामेव, अपितु बालिकानामप्येतदभिमतमृषीणाम् इति विज्ञायते । तथैव ह्युपलभ्यते श्रुतिवचनं, प्रदर्शितं चैतत् श्रीमद्भिर्दयानन्दस्वामिभिः—

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । " इति ।

अथ. स. ११. ३. ७. ८. ।

अतएव शतपथब्राह्मणेऽपि (१४. ७. ९. १६.)

"अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेतेति । " †

---

* "तामाचार्यजायोवाच—ब्रह्मचारिन्नशान, किं नु नाश्नासीति"—छान्दोग्योप. ४. १०. ३ ।

† एतत्पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमिति नास्मभ्यं रोचते ।

सन्ति चैतत्समर्थकानि पुराणवचनान्यपि ।* अतएव केषाञ्चिद् वैदिकमन्त्राणां प्रकाशकतया स्त्रीणामपि ऋषित्वगौरवलाभो दृश्यते । अतएव हि ब्रह्मवादिनीनामपि स्त्रीणां नामधेयानि न खलु नाकर्ण्यन्ते-पुरातत्त्वविद्भिः । स्त्रीणां ब्रह्मचर्याधिकारसद्भावादेव कालिदासोऽपि शकुन्तलां ब्रह्मचारिणीमेव प्रादर्शयत्, ततश्च सा किल उपकुर्वाणा नैष्ठिकी वेति राजा तत्सखीं प्रियंवदामपृच्छत् । भवभूतिरपि तदर्वाचीनो निगमान्तविद्यामध्येतुकामाम् आत्रेयीमाह, ततश्च तनयानामिव दुहितॄणामपि शिक्षां व्यवस्थापयामासुस्ते महर्षय इति नास्त्यत्र स्तोकोऽपि सन्देहः ।

अमृतत्त्वाधिगम एव हि चरमः पुरुषार्थ इति पूर्वमुक्तम् । आचार्यश्च तदेव मनसि निधाय तदनुकूलमेव ब्रह्मचारिणेऽन्तेवासिने सर्वमुपदिशति, उपदिष्टं चार्थजातमाचारयति, सत्याहिंसोर्ध्वरेतस्त्वादिकं च गुणकलापं सम्यगनुष्ठापयति । इत्थमेवायं दीर्घं कालमाचार्यकुलमधिवसन् मनसि वचसि काये च तादृशीमेव काञ्चित् शक्ति-

---

* यथा देवीभागवते (४५ अध्याये) |
"वेदेषुचरते यस्मात् तस्मात् सा ब्रह्मचारिणी । " इति । यमश्चाह—

"पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥
पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः ।
स्वगृहे चैव कन्याया भिक्षाचर्या विधीयते ॥
वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च ॥

हारीतश्च—

"द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्चेति ॥ " पराक्रान्तं चात्रभियुक्तैरित्यलं प्रपञ्चेन ।

मधिगच्छति, ययास्य सर्वं जीवनं सुखमयं च कल्याणमयं च सम्पद्यते । अतिदुर्भरोऽपि संसारभारो नैनमवसादयितुं प्रभवति, समुपस्थितान्यपि प्रलोभनशतानि नैनं धर्म्यात् पथः प्रच्यावयितुं शक्नुवन्ति, दुःखशतान्यपिच समापतितानि नैनं विचालयितुं क्षमन्ते । किं बहुना, अनाचरितब्रह्मचर्येण सर्वथा दुष्कराण्येव कर्म्माणि गार्हस्थ्याश्रमस्य । नहि दारग्रहणपूर्वकं गृहवासादेव क्रियते यत्कर्त्तव्यं गृहस्थस्य । सर्वेष्वप्याश्रमेषु गार्हस्थ्यमेव दुर्वहमिति कस्य नामाविज्ञातं धर्मशास्त्राभिज्ञस्य । ब्रह्मचर्यादेव च तद्वहनशक्तिर्जायते सम्भवति च । तेनैव चायं मन्वादिभिरुपदिष्टेन मार्गेण कांश्चित् कालान् कर्त्तव्यधिया द्वितीयाश्रमवासमनुभूय पुण्यारण्यं प्रतिष्ठते । तत्र च विगतसंसारचित्तः फलमूलादिसुलभाशनैश्चरमपुरुषार्थस्य अमृतत्वस्याधिगतयेऽधिकाधिकं प्रयतते, ततोऽपिच सर्वमात्मसम्बन्धं सन्यस्य एकाग्रेण चेतसा परमात्मानमनुक्षणं चिन्तयन्नमन्देनानन्देन शेषमायुः क्षपयन्नधिगच्छति यदधिगन्तव्यम्—अमृतं च अमृतत्वं च ।

एष एव हि सुचिन्तितश्च सर्वोत्तमश्च पन्था भारतीयानाम् । एतस्यैव हि पथः सद्भावात् पुरा किल भारतीये जनपदे न कश्चिद् अविद्वान् आसीदिति ब्राह्मणवादः कथयति । ततश्च महत्तरो मिकाडोनामकः साम्प्रतिको जापानराज एव न केवलं जानात्युद्घोषतितुं यत्तथैव खलु विस्तारणीया मे राज्ये शिक्षा, यथा न कश्चिद् ग्रामोऽशिक्षितगृहः, न च गृहमपि किञ्चिदशिक्षितपरिवारं भवेदिति । घोषणैवेयन्तु जापानराजस्य सङ्कल्प एव त्वयमेतस्य, फलं

पुनः कियद् भवेदिति नाद्यापि ज्ञायते । भारते तु फलमेव कीर्त्त्यते कीर्त्यतेच शिक्षा तत्फलं चैति द्वयमपि । उवाच किल कैकेयोऽश्वपतिश्छान्दोग्यब्राह्मणेः—

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्न आविद्वान् न स्वैरी न स्वैरिणीति ।"

छान्दोग्योप. ५. ११. ५ ।

भ्रातरः, क्व नु खल्वन्यत्र भारतादाकर्ण्यतामेषा सुदुर्लभतरा वचनपङ्क्तिरिति विचारमन्तु भवन्तः । *

प्राणायते हि तपो ब्रह्मचर्य्यं नाम सर्वस्याः शिक्षयाः । विनापि ब्रह्मचर्यं लभ्यत एव शिक्षेति न खलु नास्माभिरपि दृश्यते । आसुरी त्वियं शिक्षाधिगम्यते न तु दैवी । आसुरीमेव प्रवृत्तिमुत्पादयति शिक्षा तादृशी । नाम्नैव हि सा शिक्षा न तु वस्तुतः कर्मणापि । न हि परःशतानां ग्रन्थानामध्ययनेन; परीक्षाविशेषेण विरुदावलीलाभेनैव वा चरितार्था शिक्षा । अतएव भगवन्तं सनत्कुमारमुपसन्नो नारद उवाचः—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां............सर्पदेवजनविद्याम् एतद्भगवोऽध्येमि । सोऽहं भगवो मन्त्रविद् एव न तु आत्मवित् । सोऽहं भगवः शोचामि ।"

छान्दोग्य. ७.१.१.-२ ।

---

* अत्रत्योऽध्यापकः श्रीमान् रामदेवश्च "श्वेतुकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदम् आजगामेति" वृहदारण्यकश्रुतिबलेन (६. २. १) तदानीं परिषच्छब्दवाच्यो विश्वविद्यालयोऽप्यासीदिति प्रतिपादयितुमिच्छति ।

ब्रह्मचर्येण हि तपसा शोधितशरीरे पुरुषक्षेत्रे आत्मविद्याया बीज-मुप्यते, तेनैव चायं शक्नोति तरीतुं शोकम् ।

तप एव हि मूलं निखिलस्य मङ्गलस्य । तपःसद्भावादेव भारतीयं वनं तपोवनं सन्महामुनीनां महिम्ना भारतस्याप्रतिस्पर्धिकं गौरववैभवमुदपादयत् । तपोऽसद्भावादेव च देशान्तरीयं वनं वनमेव केवलं बर्बराणां व्याधनिषादादीनां केलिभवनम् । यत्र केवलमुच्छृङ्खलः काम एव विजृम्भते न तु तपः, नैव तत्र वास्तवं मङ्गलं द्रष्टव्यम् । अलं तावद् धर्मशास्त्रवार्त्तया, ननु महाकवीनां काव्यनिबन्धेष्वपि सोऽयमेवार्थो मधुरया भङ्ग्या प्रदर्शितः । दृश्यतां तावत् 'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम् ।' अत्र हि शकुन्तलया दुष्यन्तस्य प्रथमे संयोगे अन्योन्यनुरागापरनामा काम एव हेतुः । स च संयोगो हन्त तथाविधाय दुर्विषहाय अमङ्गलायैव सम्पन्नः । द्वितीये तु संयोगे शकुन्तला तपोवनमधितिष्ठन्ती 'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी' तपस्यन्ती विलोक्यते न तत्रविलोकते स्पर्शोऽपि कामस्य स चाय भावो दुष्यन्तेऽपि समानः । कुमारसम्भवे तथाभूतापि पर्वताराजकन्यका न तावदधिगतवती शिवं सहायेन मकरकेतनेन । भस्मीभूत एव तु मकरकेतौ तपस्यन्ती पार्वती परमशिवं शिवमध्यगच्छत् । रघुवंशे राजदम्पती तपो वनमागत्य तपस्ययैवात्मानुरूपं तनयमलभेतां न तु तत्पूर्वम् । कादम्बर्यांमहाश्वेतायाः पुण्डरीकेनसंयोगे काम एव बीजमदृश्यत, अतएवासौ विरस एव समपद्यत, अथ पुनः संयोगार्थन्तु महाश्वेतामच्छोदसरस्तीरवर्त्तिन्यां वनभूमौ तपस्यन्तीमेव पश्यामः । भवभूतिरपि उत्तरचरिते—

"एतानि तानि गिरिनिर्झरिणीतटेषु ।
वैखानसाश्रिततरूणि तपोवनानि ॥"

इति प्रथम एवाङ्के तपोवनलक्ष्मीमुद्भाव्य आशेषं सर्वमपि वृत्तान्तं तपोवनानुगतमेव वर्णयति ।

अयोध्यावृत्तान्तात् परं रामायणकथानायकयोः सहसीतयो रामलक्ष्मणयोस्तानि तानि वासराणि तपोवनदर्शनाधिवासाभ्यामेवातिक्रान्तानि । अन्तेऽपि सीता प्राचेतसस्य महर्षेराश्रम एव विसृष्टा । महाभारते च ते किलाजातशत्रुप्रभृतयः पाण्डुराजकुमाराः द्वादश संवत्सरान् "पूतात्मनां चीरजटाधराणां" धर्मभृतां निवासं द्वैतवनमिति प्रसिद्धं तपोवनमेवाध्यवात्सुः । अन्तरान्तरा च काश्यपादीनां तपोवनकथया परिपूतो वृत्तान्तो महाभारतीयः ।

ततश्च सोऽयमेव ब्रह्मचर्यानुगस्तपोवनभावो मूलमखिलस्य मङ्गलस्येति रमणीयतरो निश्चयो भारतीयानाम् । प्रागिव साम्प्रतमपि सोऽयमेव भावः प्रतिष्ठाप्यः सर्वेषु विद्यामन्दिरेषु । तथैव ह्येतेषु प्राणा आधीयेरन् हृदयं च । अन्यथा अतिमहतीमाकृतिं बिभ्राणान्यपीमानि प्राणहृदयविरहितानि शालभञ्जिकाप्रतिमान्येव भवेयुः ।

भिद्यते किल कालः प्रतिक्षणम् । भिद्यमानश्चायं न केवलमात्मनैव भिद्यते, अपित्वन्येषामपि भेदं साधयन्नेव । नहि बाल्ये मातृस्तन्यमात्रं पिबन् बालस्तरुणोऽपि तदेव पिबति, पिबन्नपि वा शक्नोति धारयितुं प्राणान् । इत्थमेव भिन्नः स कालो, यदा सखल्वार्याणां ब्रह्मचर्यविधिः प्रथमं प्रतिष्ठितः । भिन्नश्चायमिदानीन्तनः । भेदाच्चास्य बहूनामेव भेदः सम्पन्नः । यत् किल तदानीमासीत्, आसीत् तत

तस्यैव कालस्यानुकूल्यम् । यद्यच्च तस्य कालस्यानुकूलमभवत्, सर्वमेव तदस्यापि कालस्यानुकूलं भवेदिति न जातु भवति सम्भवति वा । अतोऽवश्यमेव ब्रह्मचर्यनियमानां केचनेदानीं पूर्वेभ्यो भिद्येरन्नेव । न पुनस्तावता ब्रह्मचर्यमेव न सिध्येदिति मन्तव्यम् । किञ्च सर्वथैव नियमानामपरिवर्त्तनीयत्वाग्रहे नियमा एव केवलं पाल्येरन्, न पुनस्तैर्नियमैः सहस्रकृत्वोऽप्यनुसृतैरधिगम्येत नाम तद्—यदधिगन्तव्यं नियमैः ।

प्रयोजनं चेत् कामं परिवर्त्यन्तां ते नियमा ये परिवृत्तिसहाः, ये पुनर्न परिवृत्तिसहाः, न ते परिवर्त्तनमर्हन्ति । अन्यथा हि मूलमेव समुच्छिद्येत । परिवर्त्तने च नियमानां तथा निपुणं द्रष्टव्यं यथा मूलार्थस्य नोच्छेदः स्यादिति । ततश्चेत्थं वर्त्तमानकालानुरूपा एव नियमा आवश्यका ब्रह्मचर्यस्य ।

किञ्च नेदानीं केवलं भारतीयैरेव सम्बन्धो भारतीयानाम् अपितु भूयोभिर्देशान्तरीयैरपि । न चैते न विद्वांसः प्रभाववन्तो वा । तथा च नैतेऽस्माकमुपेक्षणीयाः । अथवा का कथोपेक्षायाः । नन्वेत एव हि भारतीयानां श्रद्धामाकर्षन्ति एतेऽपि चास्माकं शास्त्रतत्त्वमपि व्याचक्षते । भिन्नैव काचित् पद्धतिरेषाम् अध्ययनाध्यापनादौ । कथञ्च तामनवबुध्य तेषामुक्तेर्युक्तायुक्तत्वं विवेक्तुं शक्यम् । कथं वा तेषां शास्त्राण्यनधिगम्य तदीयं सारमादातुं, परिहर्तुं चासारं शक्यमस्मद्ब्रह्मचारिभिः । ततश्चैतादृशेषु विषयेषु नवीनानामपि नियमानामनङ्गीकारे न सर्वथा समीहितसिद्धिर्ब्रह्मचारिणामित्यवश्यं वक्तव्यम् । दिष्ट्या नैतेन गुरुकुलेन नास्मिन् न कृतो नयननिक्षेपः ।

ये पुनः स्वकीये स्थापिते च स्थापयिष्यमाणे च ब्रह्मचर्याश्रमे केवलं भारतीयान्येव शास्त्राणि परिपिपाठयिषन्ति परिजिहीर्षन्ति च पाश्चात्त्यानि, तेषां ब्रह्मचारिण एकदेशदर्शिन एव स्युः । ततश्चार्धमेवैते तत्र शिक्षेरन् अर्धं च परिहरेरन् । तेन च पक्षाघातेन व्याधिना परिपीड्यमानाः पुरुषा इव ते विकला इव सम्पद्येरन् ।

इदं चात्र किञ्चिद् वक्तुमिष्यते । मतभेदो नाम सर्वथा दुर्निवार एवविधातुः सृष्टौ । बहवः खल्विमे वयं सम्मिलिता अत्र, परन्तु न सर्वेषां नः सर्वेष्वपि विषयेषु समानमेव मतम् । यदस्माकं कस्मैचिद् रोचते, न तदन्यस्मै । आवश्यकश्चैष भेदो मतस्य । एतेनैव हि वस्तुतत्त्वं स्थूणानिखनन्यायेन दृढतरं स्थाप्यते । स्वस्वमतेनैव जनाः प्रचलन्ति, कुर्वन्ति च तत्तत् कार्यं कार्यं चैकस्मिन् सम्भवन्त्येव केचिदंशाः, यत्र न विरोध आशङ्क्येत । येषु चांशेषु न विरोधाः स्युः, सानन्दं सादरं च तान् सर्व एव श्रेयोऽर्थिनो गृह्णीयुः । न पुनर्द्वेषेण तानपि परित्यजेयुः । अन्यथा वञ्चिता एव ते पण्डितमानिन इत्यवश्यं वक्तव्यम् ।

तथाचैतस्मिन् गुरुकुले सत्यपि केषाञ्चित् कस्मिंश्चिद् विषये मतभेदे कामं तं परित्यज्य गृह्णन्तु ते भूयांसमविरुद्धं विषयम्, कुर्वन्तु च तदनुकरणेन स्वसम्प्रदायसमुन्नतिम् । प्रभूतं किल शिक्षितव्यमस्मिन् वर्तते । जानन्तु चैतत् ते यत्र खलु कर्मविरहितानि सहस्राण्यप्युच्चैर्वचनानि स्वल्पायापि फलाय कल्पन्त इति ।

विजयतामिदं सरस्वतीसम्मेलनं येनेह दूराद् दूरतरात् स्थानादियन्तः प्रथितकीर्त्तयो मतिमन्तो विद्वांसः परिदृश्यमाना अस्मादृशां

दर्शकजनानाम् अननुभूतपूर्वमानन्दविशेषमुत्पादयन्ति । सरस्वतीरसास्वादसम्पत्तये एतावता प्रयासेन, एतावता च द्रविणसम्भारविनियोगेन एतादृशस्य सम्मेलनस्यारम्भो नाम न जात्वद्यत्वे भारते वर्षे गुरुकुलादन्यत्र दृश्यते वा श्रूयते वा । आकर्ण्यते किलास्माभिः पाश्चात्त्यभूमौ प्राच्यविद्याविदां महासमितिः [Congress Of Orientalists], कर्माणि चास्याः साहित्यानुशीलनपराणि निरीक्ष्यन्ते । तदादर्शेनैव साहित्याभ्युन्नतये समुत्पन्नमिदं सरस्वतीसम्मेलनमिति विज्ञायते। तदर्थमेव चाद्यामी वयमस्मिन् नानादिग्देशेभ्यः समागताश्चिन्तयामः समनुभवामश्च साहित्यिकरसम्, अभिलषामश्च काञ्चिन्नवीनामेव पद्धतिं प्रवर्त्तयितुं तस्य खलु रसस्य भूयसा समुद्भवाय । अस्ति किलास्माकं भारतीयानां काचित् स्वकीया पद्धतिः शास्त्रतत्त्वानुशीलनस्य, अस्ति चान्या पाश्चात्त्यानामपि, अनुपेक्षणीया च सा । सम्मेलनं किलानयोरिदानीमपेक्ष्यते । तेनैव हि लब्धं तत्त्वं पुष्कलं च हृदयङ्गमञ्च स्यात् । तत्प्रवर्त्तन्तां सन्तस्तस्यार्थस्य सम्यक् सम्पत्तये, प्रवर्तन्तां च पुनरपि पवनपदव्यामुत्थापयितुं विजयवैजयन्तीं भगवत्या अमरसरस्वत्याः । प्रवर्त्तन्तां च पुनरप्येतस्या विजयदुन्दुभिध्वानेन दिक्चक्रवालं वाचालयितुम् । परन्त्विह यो नामायं वर्णितप्रकारोऽमृतत्वप्रापको ब्रह्मचर्यरूपः पुण्यो भावः, नायं चेदस्माकं हृदयमावर्जयेच्च, समुद्दीपयेच्च तर्हि मन्यामहे न सम्यक् फलितमेतेन नः समागमेन, न सम्यग् लब्धं यल्लब्धव्यमत्र, न च दृष्टं यद् द्रष्टव्यम्, न वा चिन्तितं भो भ्रातरः, यच्चिन्तनीयं नामास्माभिरिति शिवम् ।*

---

* सामयिक सभापतेः श्रीमतो विधुशेखर भट्टाचार्य्यस्य प्रारम्भिक मभिभाषणम् ।

आर्य्याणां सभ्यता ।

(ब्रह्मचारि ब्रह्मदत्त लिखिता)

हस्ताद्यावयवै विनाऽपि सकलं ब्रह्माण्ड मत्यद्भुतं
येनेदं व्यरचि स्वभावविमलं तद्ब्रह्म वन्द्यम् जनैः ।
वेदोदीरितधर्मकर्मनिरतप्राज्ञै र्मुनीन्द्रैः पुरा ।
सानन्दं समवस्थिति र्विनिहिता यस्मिन्परस्मिन्परम् ॥
ध्यानैकमात्र सम्वेद्य-मनन्त ज्ञान कारणम् ।
वन्दे विश्वेश्वरन्देव – मन्तरायप्रशान्तये ॥

अये !

भव्यौदार्य्यादिगुणगणमण्डिताः! चतसृष्वपि विद्यासु लब्धप्रकर्षाः! दृष्टसकलकाव्यनाटकाऽऽख्यायिकाऽऽख्यानप्रबन्धाः! विशालहृदयाऽऽसादितस्वेच्छाऽवकाशयेवातिदूरप्रसृतया धिषणया सम्यग्ज्ञातहेयोपादेय विभागाः! महाभागाः! भारतभूषणमहाशयाः! प्रतिदिवसमभिलशित दर्शनदर्शनेन, सकलहृदयविद्रावितमहामाहिममोहनिद्राः! नानाकलाकलापप्रचारविस्तारिकीर्तिकमनीये ह्यानवद्यविद्याविद्योतिविभातिभारते लब्धप्रतिष्ठाः! समस्तभुवनध्वान्तनिवारणैकहेतुभूतमार्तण्डाऽऽखण्डितमण्डलस्वान्तध्वान्तशान्तचणज्ञानवन्त स्तत्रभवन्त आर्य्याः!

निखिलदुरितक्षयकारिणाऽच्युतस्मरणेनाऽद्भुततमेन प्रज्ञापाटवेनाऽनितरसुलभेनाऽध्यात्मविद्याऽधिगमेन वित्तैः प्राच्यप्रतीच्योभयविधविद्याविज्ञै र्वर्णनीय मार्य्याणां सभ्यतेति विषयम्, सूक्तिसुधारसदानाद-

खिलान्विबुधानासादयितुमनर्हो गुरुचरणारुणसरसिजनिष्यन्दिमधुरमधुधारामासेव्याऽच्युतकृपया गृहीतविद्यालवोऽयं जनो वर्णयितुम्प्रवृत्तः "प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहु रिव वामनः"

इत्येतां कविकुलगुरुकालिदासीयभणितिवाच्यतांगतोऽपि चेत् संस्कृतभाषामात्रकृतपरिश्रमाणां महामतीनां भारतीयविदुषां दैशिकेतिहासालोचनं सम्पादयितुम्प्रभवति तर्ह्यात्मानं नितान्तं कृतकृत्यमिव मन्यते ॥

पारिषद्याः !

नाद्यावधि केनाऽपि भारतीयेन विदुषा ऐतिहासिकलोकेनालोचयता संस्कृतसाहित्यमखिलसुराऽसुराऽभिनन्दितमहिमाऽतिशयानां निस्तुलप्रतापोपहसिताऽमरपतिवैभवानामतुलभुजबलार्जिताऽशेष लोकाधिपतीनाम्प्रणमदनेकमहीमहेन्द्रमुकुटमणिकिरणपातस्नपितचरणकमलानाम्पवित्रचरित्रपवित्रीकृतधरित्रीवलयानां निजपूर्वजाना मार्य्याणां सभ्यताया इतिहासार्थनिरूपणे लेशतोऽपि श्रमोव्यधायि । हन्त सौपर्वणीं वाणीं याथातथ्येनानभ्यस्यन्तोऽविदितवेदितव्याः केचन पाश्चात्याः कृतश्रमाः अस्मिन्पथिविलोक्यन्ते ॥

सत्यं दुर्निवारा हि दैवस्य गति र्यदद्य जीवनकल्प म्भारतीयानां नैजमितिहासमपि परकरगतमवलोकयाम स्ते पुनरत्रत्यव्यवहाराऽनभिज्ञतयाऽनधिगतभारतभारतीकतयाऽसूयकतया वा भारतेतिहासं सर्वथाऽप्यसमञ्जसतया दर्शयन्तोभ्रान्तान्भावयन्ति भारतसाधारणजनानिति प्रत्यह मधोऽधो यान्तवि भारतदशा निरीक्ष्यते ॥

तत्राऽहमस्मिन् लघुनिबन्धे प्रयतिष्ये स्वरूपतया प्रदर्शयितुमार्याणां सभ्यता मात्रासेच;

"गच्छतस्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः"

इत्युक्त्यनुकूलं स्खलितं मे सहन्तो मान्यविदग्धा यवनोद्दीपितदहनदग्धेऽपि स्वल्पेतरसंस्कृतग्रन्थचये शिष्टग्रन्थसमालोचनेनाऽशु सत्येतिहासप्रतिपादनतया स्वदेशीयाननुग्रहीष्यन्ति देशोन्नत्यै ॥

अस्त्विदानीं प्रसङ्गपरिप्राप्तविषयमनुसरामः; तत्रैकेसभ्याः किञ्चसभ्यत्वमिति किञ्चिद् विवेचयिषितम्; तत्र समाना भा यस्यां यस्या वेति सा सभा; सभायां साधवः सभ्याःसभ्येति प्रकृतिजन्यप्रतीतौ प्रकारतया भासमानञ्च सभ्यत्वमिति शब्दानुशासनविदो व्याकुर्वन्ति ॥

तदयं निर्गलितोऽभिसन्धिः—

समानोद्देश्यतावत्त्वेसति ऐहिकाऽमुष्मिकनिःश्रेयसविधायकशास्त्रप्रतिपाद्याऽवगीतविषयतावच्छेदकधर्मवत्वं सभ्यत्वमिति अत्रोद्देश्यपदं परमोद्दिष्टपरमपुरुषार्थ परम् तेन अन्तः करणानां नैकविधतयाऽभिलषितानां विविधत्वेऽपि न समानत्वक्षतिः, नचाऽमुष्मिकनिःश्रेयसतच्छास्त्रप्रामाण्याऽनुष्ठाना प्रतिपत्तृसभ्येषु अव्याप्तिर्लक्षणस्येति विशङ्क्यमिष्टापत्तेः; आर्याणां सभ्यतायाः अतथाविधत्वात् प्रकृतेच तस्या एव प्रक्रान्तत्वेन लक्ष्यमाणत्वात् समानत्वञ्चाऽत्र नैककार्यकर्तृत्वादिना अपितु समानोद्दिष्टप्राप्त्यर्थकस्वाधिकारयोग्यकर्मकर्तृत्वादिना बोध्यम् ॥

शिष्टत्वमार्यत्वं वा देशतः कर्मत श्चाऽवसेयम् ।

तद्यथाह भगवान्भाष्यकारः "पृषोदरादीनियथोपदिष्ट"

मितिसूत्रे ॥ ६ अ० ३ पा० १०९ सू० ॥

"एवं तर्हि निवासतश्चाचारतश्च स चाऽचार आर्य्यावर्त एव कः पुनरार्यावर्तः प्रागादर्शात् प्रत्यक् कालकवनात् दक्षिणेन हिमवन्त-मुत्तरेणपारियात्रम्; एतस्मिनार्यावर्ते निवसन्ति ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्याः अलोलुपाः अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण विद्यायाः कस्याश्चिद् पारङ्गता स्तत्रभन्तः शिष्टाः"

अत्रार्थे जगाद कैय्यटः; तदुक्तम्

आविर्भूतप्रकाशाना-मनुपप्लुतचेतसाम्,
अतीतानागतज्ञानं-प्रत्यक्षा न्न विशिष्यते ।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान्-पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा,
येभावान्वचनं तेषां नाऽनुमानेन बाध्यते

"तदुक्तम्" इति वचनात्कस्यचिदन्यस्याऽतिप्राचीनस्याप्त-स्योक्तिरिति निश्चिति र्नतुकैय्यटस्य ॥

अमुमेवार्थं पद्यद्वयेन दर्शयामास मनुः—

"आसमुद्रा त्तु वै पूर्वा—दासमुद्रा त्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्य्यो—रार्यावर्तं विदु र्बुधाः ॥
एतद्देशप्रसूतस्य—सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्—पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥"

अतो मनुभाष्यकृत्समकालं आर्यावर्तदेशीयानामार्याणामाचार-स्सभ्यता वा ऽनुगन्तव्यासीदखिलजनसमाजैरिति मतमखण्डनीय-मवधारयामः ॥

वेदमूलकतया मनुवचनप्रामाण्यग्रहे लेशतोऽपि न संशयः ॥

श्रूयते हि छान्दोग्यब्राह्मणेः—

मन्नुवै यत्किञ्चिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः ॥

बृहस्पतिरप्याह:—

वेदार्थोपनिबन्धत्वात्—प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् ।
मन्वर्थविपरीता तु—यास्मृतिः सा न शस्यते ॥
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते—तर्कव्याकरणानि च ।
धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा—मनु र्यावन्न दृश्यते ॥

महाभारतेप्युक्तम्:—

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
अज्ञासिद्धानि चत्वारि—न हातव्यानि हेतुभिः ॥

इत्थं सम्यक् लक्षयद्भिरस्माभिरार्यावर्तदेशीयानामार्याणामाचारोऽपि समासतया प्रादर्शि; परं सन्ति विप्रतिपन्नाः मोक्षमूलर-प्रभृतयः पाश्चात्या स्तदनुचराः रमेशचन्द्रदत्तादयश्च भारतीयाः आर्यशब्दार्थे, तेन प्रसङ्गवशात्तेषां मत मत्रैवाऽऽलोचयामः ॥

शब्दव्युत्पत्ति निरूपणावसरे:—

Biographies of words and the home of the Arya :—

निजनिर्मित पुस्तके Agriculture शब्दस्य मूलभूतमार्यशब्दं विजानता मोक्षमूलरेण व्यलेखि;

Sk. Arya ; Landholder. Zend ; Airya.

अतु वेदानधिगन्तुं योग्य आर्य इति व्युत्पत्त्या ऋ धातो रार्यशब्दे निष्पद्यमाने यो हि वेदानध्यवसितुमर्हति स एव आर्यः, दृश्यन्ते च भारतीयाः साम्प्रतम्पुरा वा ईश्वरप्रदत्तसकलज्ञानविषयी-

भूते वेदे कृतपरिश्रमाः परम्परदेशसम्भवाः वाईवलकुराणादिमनुज कलितपुस्तकदत्ताचित्ताः सर्वेऽप्यनार्या एव ॥

अर्तु योग्य इति विग्रहेण वा दयादाक्षिण्यादिशुभलक्षणलक्षितत्वात्प्रापणीयः श्रेष्ठो प्यार्यशब्दं भजते अथवा आर्यावर्तदेशवास्तव्यजनोप्यार्य स्तेन केवल मस्मद्देशीयानामेवार्यसंज्ञा नेतरेषाम् ॥

"अन्नं दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयावभिधमन्तौद
स्युं वकुरेण ज्योतिषा बोदकेन आर्य ईश्वरपुत्रः"

इति निरुक्तप्रामाण्यादीश्वरपुत्रार्थे प्यार्यशब्दःसमायाति वेदे ॥

परं न विद्मो गुरुणा केन कोशप्रामाण्येन कथं वा व्याकरण साहाय्येन कुत्र वा साहित्यग्रन्थेष्ववलोकनेनैतेन पण्डितम्मन्येन मोक्षमूलरेण आर्यशब्दार्थो हालिक इत्यभाणि ॥

वयन्तु सर्वथाप्यत्रेमं वराकं संस्कृतभाषाऽनभिज्ञतया भ्रान्तम्प्रतीमः; इत्थं मोक्षमूलरमतानिरासेन तदनुचराः प्रधानमल्लन्यायेन निरस्ताः ॥

अस्मन्मते अर्यशब्दः सम्भावमयति Agriculture शब्दमूल भूतो नत्वार्यशब्दः "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" इति पाणिनिसूत्रप्रामाण्यात् भवन्ति च वैश्याः हालिका स्तेषु व्यापारादिकर्मकर्तृत्वात्कृषिप्राधान्यवत्वस्वीकाराच्च ॥

तदुक्तं मानववाङ्मये:—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥

तथा च शुक्रनीतौ:—

क्रयविक्रयकुशला ये नित्यञ्चपण्यजीविनः ।
पशुरक्षाः कृषिकरा—स्ते वैश्याः कीर्तिता भुवि ॥

सदस्याः !

पटुवटुसाधिताऽध्वरधूमश्यामायमानतरुशिखान्तेषु; तरङ्गसङ्गविषण्णषट्पदमञ्जुगुञ्जिताऽवृतनलिनीपुञ्जमञ्जुलेषु; कूजद्द्विजराजिलालितेषु, गण्डभित्तिगलितमदवारिधारासम्पादिताऽकालदुर्दिनैः कर्णतालपवनजनितवात्यापरिभ्रमैः मातङ्गपुङ्गवैरवगाहितेषु, यायावरतपःप्रभावकलितशशिकलाकुटिलविमलदंष्ट्राकोटिव्यालहृदयाऽहिंसाभावेन निर्भीकसारङ्गगणसेवितेषु, अच्युतस्मरणसंलग्नव्रतिव्रातकृतक्रतुविशेषैस्सुगन्धिङ्गतेषु; कमनीयनारिकेलोदुम्बरपनसाम्रकदलीकपित्थकाऽशोकसालवकुलाश्वत्थवटवृक्षषण्डैरान्तिरितभानुकिरणेषु; जाह्नवीपुण्योदकैरनवरतमाप्लावितेषु; काननेषु ॥

विविधवनगहनवीरुत्ततिपिहितोटजे स्थितैः प्रशान्तान्तः सारैरन्तेवसद्भिरिव प्रचलत्तरुलसत्कुसमवर्षैः रच्यमानपरिसरैः निसर्गसौम्यरम्यललिताननप्रदर्श्यमानगाम्भीर्येण साक्षात्कृपामिव वर्षद्भिः कन्दमूलफलाशिभि,; स्तपश्चर्यया कृषकायैः सकलवेदवेदाङ्गपारगैः अन्तःप्राणावरोधव्युपरताज्ञानै र्भवभवदुरितविभेदनकुशलै र्ब्रह्मविद्भि र्ब्रह्मनिष्ठै रार्यैः गौत्तम कणाद व्यास कपिल पतञ्जालि जैमिनि याज्ञवल्क्यादिमहर्षिभि रुपनिषत्सु षड्दर्शनेषु चात्मपरमात्मपरिबोधाय कथं परिश्रमायितमिति कस्याऽ विदितम् ॥

नूनमखिलै रध्यवगम्यत एव ॥

ते पुनरात्मस्वरूपजिज्ञासया प्रकृतिजवस्तुजातं निष्ठीवमिव क्षिपन्तः कथमिवात्मज्ञाने व्यासक्ता आसन्निति तु नाचिकेतोपाख्याना त्सम्यग् विज्ञातुमर्हम् ॥

तन्निदर्शनम्:—

नचिकेता तृतीयं वरं वृणोति ;

"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीति एके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्ट स्त्वयाऽहं वराणामेषवर स्तृतीयः ।

उत्तराति यमः ।

देवैरत्राऽपि विचिकित्सितम्पुरा नहि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मामोपरोत्सी रतिमा-सृजैनम् ॥

एव मुक्तो नाचिकेता आहः—

देवैरत्राऽपि विचिकित्सितं किलत्वञ्च मृत्यो यन्न सुज्ञेय मात्थ । वक्ताचास्य त्वादृगन्यो नलभ्यो नान्योवर स्तुल्यएतस्य कश्चित् ॥

एव मुक्तोऽपि पुनः प्रलोभय न्नुवाच यमः—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् । भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयञ्च जीव शरदो यावदिच्छसि । एततुल्यं यदिमन्यसे वरं वृणीष्ववित्तं चिरजीविकाञ्च । महाभूमौ नचिकेत स्त्वमेधि कामानान्त्वा कामभाजं करोमि। ये ये कामाः दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वा न्कामान् च्छन्दतः प्रार्थयस्व । इमाः रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशालम्भनीया

मनुष्यैः । आभि र्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मा ऽनुप्राक्षीः ॥

एवम्प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य आह

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः अपि सर्वं जीवित मल्पमेव तवैव वाहा स्तव नृत्यगीते । नवित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वम् ।

"वरस्तु मे वरणीयः स एव" ॥

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यता ञ्चावगम्योपादिशति यमः

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः । तन्दुर्दर्शं गूढ मनुप्रविष्टं गुहाहितङ्गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाऽधिगमेन देवं मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति । सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यञ्चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्यो मित्येतत् । न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽय म्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।
इन्द्रियाणि हयानाहु र्विषयां स्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहु र्मनीषिणः ।

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
सतु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमम्पदम्॥
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथ
स्तत्कवयो वदन्ति॥

पारिषद्यैः श्रवणमात्रेणैव सहृदयवेदनीयोऽयं रसाऽस्वाद स्स्वयमनुभूतो भविष्यतीति नात्र बहुविस्तराऽपेक्षा। अस्मिन्विषये लेशतोऽपि प्रवेशो नास्ति पाश्चात्यानामतस्तानविद्यापदपातिता नर्द्धसभ्यान्मन्यामहे। प्राकृतिकाऽस्मिकोभयविध विद्याविज्ञाश्चार्याः सभ्यतायाः परंसीमानमधिकृतवन्त इत्युररी कुर्मः।

अस्मत्पूर्वजाः प्राकृतज्ञानेऽपि पराङ्कष्ठां लेभिरे इत्यग्रे वक्ष्यामः।

अथ कया वाचा भारतमण्डलमण्डनाना मस्मत्पूर्वजाना-मार्याणां वदनकमलमसेव्यतेति जायते विचारणा।

आसृष्टे र्महर्षि पतञ्जलि पर्यन्तं यावानितिहासोपलभ्यते तावता निश्चीयते सर्वत्राऽपि भारते प्रायेण गीर्वाणवाणी प्रतिष्ठांलेभे।

(क) ब्राह्मणग्रन्थानामुपनिषदांच यादृशी विषयप्रतिपादनशैली तया-स्पष्टमध्यवगन्तुमर्हं यदुक्तग्रन्थनिर्मातृभि रार्यासमन्तरा निसर्ग-सिद्धायां निज मातृभाषायामेवैते ग्रन्था आलिख्यन्त॥

(ख) सुगृहीतनामधेयस्य जगदभिरामस्य रामस्य राज्येसौपर्वणी वाणी वनेचरैरप्यभाष्यत किम्पुनरन्यैः ॥

तथाच श्रूयते वाल्मीकिरामायण किष्किन्धाकाण्डतृतीयसर्गे ।

"एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य रामोलक्ष्मणमब्रवीत् ॥
प्रहृष्टवदनःश्रीमान् भ्रातरंपार्श्वतःस्थितम् ॥
सचिवोऽयंकपीन्द्रस्य सुग्रीवस्यमहात्मनः ॥
तमेवकांक्ष्यमानस्य ममान्तिकमिहागतः ॥
तमभ्यभाषसौमित्रे सुग्रीवसचिवंकपिम् ।
वाक्यज्ञंमधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिन्दमम् ॥
नानृगवेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः ।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवंविभाषितुम् ॥
नूनंव्याकरणंकृत्स्न मनेनबहुधाश्रुतम् ।
बहुव्याहरताऽनेन नाकिञ्चिदपशब्दितम् ॥
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामाविलम्बिता-
मुचारयतिकल्याणीं वाचंहृदयहर्षणीम् ॥

(ग) तथा चारण्यकाण्डेकादशसर्गे—:

" धारयन्ब्राह्मणंरूपमिल्वलःसंस्कृतंवदन् ।
आमन्त्रयतिविप्रान्स श्राद्धमुद्दिश्यनिर्घृणः ॥

(घ) पाण्डवानां युधिष्ठिरादीनां समकालं निर्झरभारती समग्रआर्यावर्ते वितानमवापेति व्यासकलितमहाभारत दर्शनेनाऽवसीयते नहि तत्रसमासबाहुल्यं असतिसमासबाहुल्ये अकृत्रिमत्वंस्फुटमेव ॥

(ङ) तदनु चन्द्रेन्द्रादिव्याकरणै र्नियमिताऽपीयं संस्कृतभाषा पाणिनिनाऽष्टाध्यायी निर्माणेन सुनिबद्धेवाभूत् याहि भाषाभाष्यते जनैस्तस्या एवव्याकरणनिर्माणे प्रवर्तते विदुषां मानसम् ॥ किञ्च "पूर्वन्तुभाषायाम् ८ अ० २ पा० ९८ सू० भाषायांसदवसश्रुवः ३ अ० २ पा० १०८ सू० सख्यशिश्वीतिभाषायाम् ४ अ १ पा० ६२ सू० प्रथमायाश्चद्विवचनेभाषायाम् ७ अ० २ पा० ८८ सू० " इतिबहुत्रपाणिनिसूत्रप्रामाण्यात् भाष्यते यासाभाषेति विग्रहेण प्रतीमः पाणिनिसमकालं संस्कृतप्रचारताम् ॥

अयञ्च पाणिनि महाभारत युद्धोत्तरम्भारतम्भूषयामासेत्यत्र नास्ति विप्रतिपत्तिः ॥

अष्टाध्यायीं व्याचिकीर्षुर्महर्षिपतञ्जलिर्महाभाष्यञ्चकार अनुरक्ताश्चासन् प्रकृतयस्तदानीं संस्कृत भाषामिति महाभाष्याऽवलोकनेनाऽवधार्य्यते ॥

तथाहिपस्पशाह्निके:—

पुराकल्प एतदासीत्संस्कारोत्तरकालम्ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते; तेभ्यस्तत्तत्करण नादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिका शब्दाः उपदिश्यन्ते; तदद्यत्वेनतथा; वेदमधीत्यत्वरिता वक्तारो भवन्ति; वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः अनर्थकं व्याकरणम् ॥

"तदद्यत्वे न तथेति" वाक्यञ्ज्ञनयतितत्कालीनजनानां संस्कृतभाषाया मातृभाषात्वम् ॥

नहि मातृभाषाऽवबोधकाले तस्या भाषयाः व्याकरणापेक्षा प्राचुर्य्येण सम्पद्यते ॥

देशभेदादनेकार्थाऽवबोधकानेकधातुवृन्दस्याविद्यमानत्वाद् भवत्यल्पीयान्भेदो जनानां भाषणे तमग्रिमग्रन्थेन प्रदर्शयति ।

"शवतिर्गतिकर्मा काम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकारएनमार्या भाषन्ते शव इति; हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, दात्रमुदीच्येषु, रंहति प्राच्यमध्येषु; गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते, दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु," ॥

यदप्युक्तं "अजेर्व्यघञपो" रितिसूत्रेः—

किञ्चभो इष्यत एतद्रूपम्; बाढमिष्यते, एवं हि कश्चिद्वैयाकरण आह; कोऽस्यरथस्यप्रवेतेति; सूतआह; अहमायुष्मन्नस्य रथस्य प्राजितेति; वैयाकरण आह अपशब्दइति, सूतआह प्राप्तिज्ञोदेवानाम्प्रियः, नत्विष्टिज्ञः इष्यत एतद्रूपमिति, वैयाकरण आह; अहो खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामह इति; सूतआह; न खलु वेञः सूतः सुवतेरेव सूतः यदिसुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्" ॥

एतेन विजानीम स्तस्मिन्समये संस्कृतभाषा प्रचारः साधारणतया सर्वसाधारणेष्ववर्तत ॥

श्रीश्रीहर्षवचनप्रामाण्यान्निश्चीयते भूमिवलयं शासति निखिलगुणाधारवति नले संस्कृतभारतीप्रायेण जनै र्जगदे ॥

जगादश्रीलश्रीहर्षो नैषधचरितदशमसर्गः—

"अन्योन्यभाषाऽनवबोधभीतेः
संस्कृत्रिमाभि र्व्यवहारवत्सु ।

दिग्भ्यस् समेतेषु नृपेषु तेषु ।
सौवर्णवर्गो न जनै रचिह्वि" ॥

सभ्याः !

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ यजुः ॥

इतिश्रुत्यनुपदम् (१) ब्राह्मण (२) क्षत्रिय (३) वैश्य (४) शूद्रभेदेन चतुर्धा विभक्तानामार्य्याणां कृत्यभेदेनेयं सभ्यताऽपि चतुर्धा विभज्यते ॥

इयञ्च वर्णव्यवस्था तै र्गुणकर्मानुरूपममन्यत ॥

तथाचश्रूयते छान्दोग्योपनिषदि:—

सत्यकामो ह जावालो जवालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे; ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यासि; किं गोत्रोहमस्मीति ॥ १ ॥ साहैनमुवाच नाह मेतद्वेद तात ? यद् गोत्रस्त्वमसि; बह्वहंचरन्ती परिचारिणी यौवनेन त्वामालभे; साहमेतन्न वेद यद् गोत्र स्त्वमसि जावाला तु नामाहमस्मि; सत्य कामो नाम त्वमसि; स सत्यकाम एव जावालो ब्रुवीथाः ॥ २ ॥

स ह हरिद्रुमतं गौतममेत्योवाच;ब्रह्मचर्यंभगवति-वत्स्याम्युपेयाम्भगवन्तमिति ॥ ३ ॥ तं होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति सहोवाच नाहमेतद् वेदभोयद्गोत्रो हमस्म्यपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामालभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जावालातु नामाहमस्मि सत्यकामो नामत्वमसीति

सोहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥ तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तु मर्हतीत्यादि ॥

अत्राज्ञातकुलोऽपि सत्यकामस्सत्यभाषणमात्रेणैव शुभगुणेन ब्राह्मणोऽधिगतः; विश्वामित्रोऽपि पुरा स्वाध्यायेन जपै र्होमैश्च स्वीयान्ततुं ब्राह्मीञ्चकार; वनेचरोऽपिसन् बाल्मीकिरुत्तमगुणगणै र्मुनिपदंलेभे।

दृश्यते चापस्तम्ब सूत्रग्रन्थे :

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ तथाच मानव वाङ्मयेः—

योनधीत्यद्विजोवेदमन्यत्र कुरुतेश्रमम् ।
सजीवन्नेवशूद्रत्वमाशुगच्छतिसान्वयः ॥
शूद्रोब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ॥
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैवच ॥
जन्मनाजायतेशूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते ।
स्वाध्यायेन जपैर्होमै स्त्रैविद्ये नेज्ययासुतैः ॥
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियतेतनुः ।
तपो बीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ॥
उत्कर्षश्चापकर्षश्च मनुष्येष्विह जन्मतः ।
शुचिरुत्कृष्ट शुश्रूषु र्मृदुवागनहङ् कृतः ॥
ब्राह्मणाद्याश्रयोनित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ।

अ० २ श्लो० १६४, अ० १० श्लो० ६५, अ० २ श्लो २८, अ० ९ श्लो० ३३५; अ० १० श्लो० ४२ मनुः ॥

तथाच महाभारते शान्तिपर्व्वणि:—

अपारेयोभवेत्पारमप्लवेयः प्लवोभवेत् ।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्यः सर्वथामान मर्हति ॥
यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्म्ममयो मृगः ।
यथा ह्यनर्थः षण्डो वा पार्थिक्षेत्रं यथोपरम् ॥
एवंविप्रो नधीयानो राजायश्चन रक्षिता ।
मेघो न वर्षते यश्च सर्वथा ते निरर्थकाः ॥
नित्यंयस्तुसतोरक्ष दसतश्चनिवर्तयेत् ।
स एव राजा कर्तव्य स्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥

अध्याय ७ शान्तिपर्व ॥

तथाहि वनपर्वणि यक्षयुधिष्ठिरसम्वादे:—

नयोनि र्नाऽपिसंस्कारो नश्रुतं नच सन्ततिः ।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥

तथाच शुक्रनीतौ प्रथमाध्याये स्फुटम्:—

कर्म्मैव कारणञ्चात्र सुगतिं दुर्गतिम्प्रति ।
कर्म्मैव प्राक्तनमपि क्षणं किं कोऽस्ति चाक्रियः ॥
न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एवन ।
न शूद्रो नच वैम्लेच्छो भेदितागुणकर्म्मभिः ॥
ब्रह्मणस्तु समुत्पन्नाः सर्वे ते किन्तु ब्राह्मणाः ।
न वर्णतो नजनकात् ब्रह्मतेजः प्रपद्यते ॥

अध्याय १ श्लोक ३७, ३८, ३९ ॥

तथाच चतुर्थाऽध्यायस्य तृतीयप्रकरणे:—

योऽधीतविद्यः सकलः स सर्वेषां गुरुर्भवेत् ।
नच जात्याऽनधीतो गुरुर्भवितुमर्हति ॥
तृ० अ०, च० प्र०, २३ श्लो० ॥

दरीदृश्यतेच महाभाष्ये तेनतुल्यंक्रियाचेद्वतिरिति सूत्रेः—

"सर्व एते शब्दाः गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति आतश्च गुण समुदाये":—

एवं ह्याह—

तपः श्रुतञ्च योनिश्च एतद् ब्राह्मणकारणम् ।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एवसः" ।

इत्थं गुणकर्मभिः प्रविभक्ताना मीश्वरभक्तानान्निजनिजकर्म व्यासक्ताना मार्याणांनास न्नुपतापाः; ब्राह्मणैरपाठ्यत सकलोऽपि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रवर्गः; क्षत्रियैश्चारक्ष्यत स्वीयोदेशः; वैश्यै व्यापारेण कृषिकर्मणा चापाल्यन्त चत्वारो वर्णाः शूद्रैश्चासेव्यन्तेति प्रतिदिनम् "Division of Labour" कार्यविभागेन भारत-मुन्नति मनीयत ॥

पूर्वोक्तमर्थमनुपृणन्तीमानि प्रमाणानि—

मनुस्मृतौ :—

अध्यापनमध्ययनं यजनंयाजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
प्रजानां रक्षणंदान मिज्याध्ययनमेवच ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्यसमासतः ॥
पशूनां रक्षणंदान मिज्याध्ययनमेवच ।
वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेवच ॥

एकमेवतु शूद्रस्य प्रभुः कर्मसमादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनुसूयया॥
अ० १; श्लो० ८८, ८९, ९०, ९१॥

भगवद् गीतायाम् :—

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धेचाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम्॥

शुक्रनीतौ—

ज्ञानकर्मोपासनाभि र्देवताराधनेरतः।
शान्तोदान्तोदयालुश्च ब्राह्मणश्चगुणैः कृतः॥
लोकसंरक्षणेदक्षः शूरोदान्तः पराक्रमी।
दुष्टनिग्रहशीलोयः सवैक्षत्रिय उच्यते॥
क्रयविक्रयकुशला ये नित्यञ्चपण्यजीविनः।
पशुरक्षाः कृषिकरा स्तेवैश्याः कीर्तितासुवि॥
द्विजसेवार्चनरताः शूराः शान्ताजितेन्द्रियाः।
सीरकाष्ठतृणवहा स्तेनीचाः शूद्रसंज्ञकाः॥
त्यक्तस्वधर्माचरणा निर्घृणाः परपीड़काः।
चण्डाश्च हिंसका नित्यं ते म्लेच्छा ह्यविवेकिनः॥
शु० अ०प्र० श्लो०, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४॥

सदस्याः ?

किञ्चिद्दीयतां दृष्टि यौरोपीयसमाजे, यत्र सर्वे गुणाः काञ्चन

माश्रयन्तीति" न्यायेन केवलं लक्ष्मीपरायणा दुर्वृत्ताः धनिकाः पूज्यन्ते, प्रत्यहमर्थमदगर्वितजनपादाऽघातहन्यमानकलेवराः सकरुणं क्रन्दन्ति निर्धनाः; हाहेत्युच्चैर्गदन्तः क्षुत्क्षामकराठा दरिद्रा भोजनमलभमानाः सहस्रशो म्रियन्ते; मांसमदिराहारप्रचारः प्राचुर्य्येणोपलक्ष्यते; उद्वाहबन्धन मनिच्छन्त घोरं व्यभिचरन्ति दुर्वृता निःशृङ्खला मर्त्याः; पितृपुत्रावहर्निशं कलहङ्कुर्वाते; भ्राता सहोदरप्राणान्हर्त्तुमुद्यच्छति स्वार्थपरायणाः सम्पन्नवैभवाः कर्मकरेभ्यः कार्यबाहुल्यं कारयन्तोऽपि तेभ्योल्पांददति भृतिकाम् अतो मन्देतरप्रयत्नसाध्यकर्मकर्तृत्वेन श्रान्तानस्मान्फलाऽनवाप्तिः फलावाप्तिश्चतुन्दपरिसृजां श्रेष्ठिनामित्यहो ? अत्याचारस्य पराकाष्ठेत्यभिध्यायतां कर्मकराणां मनांसि भृशं चेखिद्यन्ते, अत एव ते धनिकजनदुर्व्यवहारदूयमानमानसाः प्रतिक्षणमुपद्रवकामा लक्ष्यन्ते; विदधातिच विप्लवम् ॥

प्रधानकारणेनैतेनैव प्रतिदिनं योरोपदेशे अशान्तिर्वितायमाना दृष्टिपथमेति ॥

अस्याः अशान्तेर्मूलकारणं राज्यं धनिक वृन्दञ्च विदन्तः केचनाराजकताप्रचारका anorchist जनाः समानवादं शान्ति स्थापकत्वेनाभिप्रयन्तो धनाढ्यान् राजकुलसम्भवांश्चहिंसन्तोऽराजकतां वर्द्धयन्तो निखिलं जगदशान्तिमयम्प्रकुर्वते, समानवादवादिनः समान लोकेनालोकन्तस्सकलं लोकं समानतया समस्तकार्यक्षमं समामनन्ति;परं नविदन्ति प्रवृद्धविमलशेमुषीभिस्साध्यं कर्म; कथमिवानधिगतशास्त्रतत्त्वतयाकुण्ठितबुद्धियो जड़ा मूर्खा वा कर्तुम्प्रभवि

ष्यन्ति; यथा लोके शिरसा सम्पादनीयं मन्त्रादिकार्यं पद्भ्यां कर्तुमीहमान श्चरणाभ्यां वा विधातुमर्हं गमनादिक मुत्तमाङ्गेन कलयितुकामःसफलप्रयत्नो न सम्पद्यते तथैवैते समानवादवादिनोवर्तमानकालीनसमानवादमधिचरन्तःकृतकृत्याःसम्पत्स्यन्त इत्यास्माकः सोपपत्तिको विचारः ॥

एते पुनर्निजनिजविचित्रतरहेत्वाभासैर्बुद्धिहीनान् पाशविकबलप्रधानान् कर्मकरान् प्रोत्साह्य भूमिवलयं नानाविधोपद्रवैराच्छादयन्ति; राजनियमाऽनुसारस्पुनर्यथानुरूपं फलमवाप्नुवन्ति; न च शान्तिप्रतिष्ठां कर्तुं पारयन्ति, चेत्:—स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः इत्युक्तयनुकूलं पुराकल्पीयान्भारतीयाननुसरन्तो; वर्णव्यवस्थांव्यवस्थाप्य "ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रेति" कार्यविभागेन कृत्यमनुतिष्ठेयुरसंशयञ्जगति निरुपद्रवं शान्तेःराज्यं लक्ष्येत ॥ तथाहिः—

प्रवृत्तवर्णव्यवस्थे पुराकल्पआर्याणांसमाजे नासन्दुर्भावकलुषितान्तःकरणाः मानवाः; परित्यक्तस्वार्थाः परार्थपरिकल्पितशरीराः परोपकारैकवृत्तायोऽलक्ष्यन्त मनीषिणः; दुष्कालबाधितजनानामार्तनादो नाश्रूयत; निखिलविज्ञानविषयीभूतससाङ्गोपाङ्गवेदोजितेन्द्रियैरप्रमादिभिरार्यैरपठ्यत; ब्रह्मचर्यपरायणै र्विधिवद्गृहकृत्यमन्वष्ठीयत; क्षत्रियैररक्ष्यत स्वीयोदेशः; तस्कराणां लुण्ठकानां परद्रव्यापहारिणामुपद्रवविधायिनामभावाच्चतुर्दिक्षु शान्ति र्व्यवस्थिताऽभूत् ॥

तथाच श्रूयते छान्दोग्योपनिषदिः—

"तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयंकैकेयः सम्प्रतीममात्मानं

वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छामेति तं हाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥ तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार स ह प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नाऽनाहिताग्नि र्नाऽविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तो हमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद् भगवद्भ्योदास्यामि वसन्तु भगवन्त इति" ॥ ५ ॥

छान्दोग्योपनिषदि; एकादशखण्डे ॥ तथाहिः—वाल्मीकिरामायणबालकाण्डषष्ठसर्गेश्रूयतेः—

कामीवा नकदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित् ।
द्रष्टुंशक्यमयोध्यायां नाविद्वान्नचनास्तिकः ॥
सर्वेनराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः ।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः ॥
नानाहिताग्निर्नायज्वा नक्षुद्रो वा न तस्करः ।
कश्चिदासीदयोध्यायां नचावृत्तो न संकरः ॥
स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।
दानाऽध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ।
नास्तिको नानृतीवापि नकश्चिदबहुश्रुतः ॥
नासूयको नचाशक्तो नाविद्वान्वर्तते क्वचित् ।
नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो ना बहुश्रुतः ॥
नदीनः क्षिप्तचित्तोवा व्यथितो वापिकश्चन ।
कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान्नाप्यरूपवान् ॥

द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापिराजन्यभक्तिमान्।
क्षत्रं ब्रह्ममुखञ्चासीत् वैश्याःक्षत्रमनुव्रताः॥
शूद्राः स्वकर्मनिरता स्त्रीन्वर्णानुपचारिणः।
वाल्मीकि रामा० बालकाण्ड सर्ग ६; श्लो, ८, ९।
१०।११।१२।१३।१४।१५।१६।१७॥

समग्रोऽप्ययम्प्रभावो वर्णव्यवस्थायाः, अतो वर्णव्यवस्थैव श्रेयस्करी शान्त्यै इतिवर्णव्यवस्थात्मकवैदिकसिद्धान्ताऽनुगामिनो भारतभूषणा आर्या एव सभ्या वक्तुंशक्यन्ते नतु धर्म्ममुच्चरमाणा पाश्चात्याः। परं सम्प्रति जगतिजनताहृदयाम्भोधरे मन्देतरमतिमतामपि मतिभ्रमोत्पादनीयं रेकासौदामिनीव विलसन्ती विकल्पतरलक्षोभ माविर्भावयति।

किन्नः पूर्वजा नव्योन्नतिविहितप्राकृतविद्योन्नतिभवानीखिलशातोत्पादकवस्तुजातवद् वस्तुचयकलने सिद्धार्था आसन्नवेति॥

तत्र चमत्कारकारि पदार्थवृन्दविभूषिते मनोहारिणि संसारे विहितवृत्तयो ऽविद्यागहनतमसि निमग्ना निर्जरभारतीमनभ्यस्यन्त आंगलभाषा ज्ञानमात्रेणैवपण्डितम्मन्या नव्यपाश्चात्यसभ्यताभुग्धमानसा वदन्ति केचनभारतीयाः॥

अद्यश्वोऽस्माभि र्निजधिषणा पाटवेनरत्नाकरः स्वायत्तीकृतोऽस्ति नोधूमनौकामहार्णवोत्तुङ्गतरङ्गान्भिन्दन् मन्देतरतरसैव सुमनोहरपदार्थजातमस्मद्धितायदेशाद्देशान्तरं नयति स्वच्छन्दं गमनस्वभावाः पवमाना अस्मत्प्रबलबलरुद्धवेगाः परतन्त्राः सन्तो नियमेन वान्तः साधयन्ति परस्सहस्राणि नस्समीहितानि एतेऽपि पावकाः अस्मदाज्ञां शिरसावहन्त उदकं वाष्परूपेण परिणमन्तो धूमशकटप्रयुक्ताः नित्यं

दासताम्भजन्ते । निसर्गचञ्चला निजभासाम्प्ररोहैर्नो निकेतप्रविष्टमलीमसध्वान्तविनाशिनीधर्मतौ तपनद्युतितापसन्तप्तकलेवरेष्वस्मासु व्यजनजवातैः परां शान्तिमुत्पादयन्ती विद्युदहर्निशमस्मान्सेवमाना गृहदासीव लक्ष्यते ॥

बुद्धिप्रभावेनाऽनिरुद्धागति रस्मदीयाऽचलोतुङ्गशिखरेषु, गिरिनदीषु, सघनवनेषु; माहोदधौ वायुमण्डले वा ॥ किम्बहुना सर्वामपिप्रकृतिं विज्ञाय विनियम्यच स्वार्थान्साधयन्तस्ससुखं निवसामः ॥

परमस्मत्पूर्वजा आर्याः प्राकृतज्ञानविहीना निषादवेषधारिणो वल्कलकलितकायरक्षा मांसम्भक्षयन्त स्सदनान्यनुपलभमाना विपिनेषुवसन्तो निजजीवनमयापयन् ।

नाज्ञासिषुस्ते कथमिव राज्यमनुष्ठेयं को वा सुन्दरभवननिवासास्वादः किन्नामधूमनौर्धूमशकटं वा, किमिदमर्थशास्त्रं रासायनशास्त्रं शिल्पशास्त्रं वैद्यकशास्त्रं वा, का वा क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या कृषिविद्या व्यापारविद्या भूगर्भविद्या भूतविद्येति ॥

अतो जात्यभिमानविरहितानां पाश्चात्यसभ्यताऽनुचराणाञ्जनाना म्परिबोधायास्त्यत्राकिञ्चिल्लिलेखायिषितम् ॥

अस्माभिरादावार्याणामात्मपरमात्मज्ञानविषये समासतयोक्तमत्रपूर्वप्रतिज्ञा "तमार्याः प्राकृतज्ञानेऽपि पराङ्काष्ठां लेभिरे" इत्यर्थं साधयितुं समीहामहे ॥

सदस्याः !

"पद्मपुष्कर सम्बाधं गजयूथैरलङ्कृतम् ।
सारसैर्हंसकादम्बैः संकुलंजलजातिभिः ॥

प्रसन्नसलिलेरम्ये तस्मिन्सरासिशुश्रुवे ।
गीतवादित्रनिर्घोषो नचकश्चनदृश्यते ॥ ”

इत्यादिश्लोकैरुपश्लोकितम्पञ्चाप्सरस्यन्तराहितं मुनिनामाण्डकर्णिना निर्मितं गृहम् ॥

(बा० अ० का० एकादशसर्गे)

“ दृष्ट्वायं प्रव्यथिताः सम्भ्रान्ता नष्टचेतसः ।
कस्यैते काञ्चना वृक्षास्तरुणादित्यसन्निभाः ॥
शुचीन्यभ्यवहाराणि मूलानिच फलानिच ।
काञ्चनानि विमानानि राजतानि गृहाणिच ॥
तपनीयगवाक्षाणि मणिजालावृतानिच ।
पुष्पिताःफलवन्तश्च पुण्याः सुरभिगन्धयः ॥
इमेजम्बूनदमयाः पादपाः कस्यतेजसा ।
काञ्चनानिच पद्मानि जातानि विमले जले ॥

इत्यादि पद्यै वर्णितन्दानवमुख्याविश्वकर्मकृतं सुमहद्विलम् ॥

(बा. किष्कि. का. एकपञ्चाशः सर्गे)

“पुष्पभारनिबद्धाँश्च तथा मुकुलितानपि ।
पादपान्विहगाकीर्णान्पवनाधूतमस्तकान् ।
हंसकारण्डवाकीर्णा वापीः पद्मोत्पलावृताः ।
आक्रीड़ान्विविधान्रम्यान्विविधाँश्चजलाशयान् ॥
संततान्विविधैर्वृक्षैः सर्वर्तुफलपुष्पितैः ।
उद्यानानिचरम्याणिददर्शकपिकुञ्जरः ॥
समासाद्यच लक्ष्मीवांल्लङ्कां रावणपालिताम् ।

परिखाभिः सपद्माभिः सोत्पलाभिरलङ्कृताम् ॥
काञ्चनेनावृत्तां रम्या स्प्राकारेण महापुरीम् ।
गृहैश्चगिरिसङ्काशैः शारदाम्बुदसन्निभैः ॥
पाण्डुराभिः प्रतोलीभि रुच्चाभिरभिसंवृताम् ।
अट्टालकशताकीर्णा स्पताकाध्वजशोभिताम् ॥
तोरणैः काञ्चनैर्दिव्यैर्लतापङ्क्तिविराजितैः ।
ददर्श हनुमाँल्लङ्कां देवो देवपुरीमिव ॥
वप्रप्राकारजघनां विपुलाम्बुवनाम्बराम् ।
शतघ्नीशूलकेशान्ता मट्टालकावतंसकाम् " ॥

(वा. रा. सुन्द. का० द्वितीय सर्गे)

इति राक्षसेन्द्रपालिता विश्वकर्मनिर्मिता पूर्वोक्तपद्ये रूपश्लोकिता लङ्काच कस्य सचेतसो मनसि नोद्भावयति तत्कालीनजनानां शिल्पशास्त्रविज्ञत्वम् ॥

दरीदृश्यतेच महाभारतसभापर्वणि मयासुरकलितसभावर्णनं यत्र दुर्योधनो वारिरहितेऽपि काचमिश्रे भूतले ऽम्बुभ्रमेण वस्त्रजात माद्रीभूतं मास्मभूदिति स्वीयां शाटीमुत्थापयामास सनीरे सरसिस्थलमात्रभ्रमेण पपातच ॥ किञ्चभोः !

धूमकशटप्रयोगकृता भूमिवलये धूमप्रयुक्ता याहानिःसञ्जायते तां को न वेद; इष्यतेच धूमशकटार्थं भूतले द्राघीयान् भूप्रदेशश्चेत्तस्मिन्कृषिर्जायेत जायेत तेनैव दुर्दैवपीड़ितजनानामुदरपूर्तिरित्यर्थशास्त्रदृष्ट्या विमानापेक्षयाधूमशकटप्रयोगोहानिकरः ॥

अत एवास्मत्पूर्वजै रार्ये धूमशकटस्थाने विमानैर्यात्रा अक्रियत;

महाभारते रामायणेच स्थले स्थले विमानानां कीर्तनं कृतमस्ति; यान्कलयितुन्नाद्यावधि पाश्चात्याः प्रभवन्ति ॥

अधीतपुष्पकविमानवृत्तो विज्ञ एव केवलं वेत्ति प्राच्यभारतीयाना-मधिगतशिल्पशास्त्रत्वम्। महाभारते विनिमयप्रकारो लक्ष्यते लक्ष्यतेच रामायणेऽपि यत्ते कर्मकरेभ्यः कार्यं कारयन्तोमुद्रारूपेण भृतिकां ददुः ॥

श्रूयते च शुक्रनीतौ: ।

"अर्थशास्त्रं कामशास्त्रं तथा शिल्पमलङ्कृतिः"

अर्थशास्त्रं लक्षयतिः—

"श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तादिशासनम् ।
सुयुक्त्यार्थार्जनंयत्र ह्यर्थशास्त्रं तदुच्यते ॥

इत्येतावता सिद्धमार्याणामर्थशास्त्रज्ञत्वम् ; उपवेदस्यार्थवेदस्य विद्यमानताप्यत्र प्रामाण्यमर्हति ॥

"तस्यवृद्ध्यैतड़ागं वा वापिकां कृत्रिमां नदीम् "

इति वाक्यं ध्वनयति तत्कालिक जनानां कृत्रिमनदी कुल्यादि (नहर) निर्माणप्रकारविज्ञत्वम् ॥

"मत्स्याहि शङ्खवाराहवेणुजीमूतशुक्तितः ।
जायते मौक्तिकं तेषु भूरिशुक्त्युद्भवंस्मृतम् ॥"
"कुर्वन्ति कृत्रिमं तद्वत् सिंहलद्वीपवासिनः "

एतानि वाक्यानि स्पष्टम्प्रदर्शयन्ति प्राचीनार्याणा-मभिनवकृत्रिममौक्तिकनिर्माणचातुरीम् ॥

"तथापुष्करिणीं कुण्डं जलमूर्ध्वगतिक्रियाम् ।
सुशिल्पशास्त्रतः सम्यक् सुरम्यन्तु यथाभवे ।"

"कर्तुं जानाति यः सैव गृहाद्यधिपतिः स्मृतः ।
इत्येतावता सदनेषु जलाब्युन्नयनविधिवेत्तृत्वमार्याणां द्योतितम्
"धात्वौषधीनां संयोगक्रियाज्ञानं कलास्मृता ।"
"धातुसाङ्कर्यपार्थक्य करणन्तु कलास्मृता"
"संयोगपूर्वविज्ञानं धात्वादीनां कलास्मृता"
"कृत्रिमस्वर्णरत्नादिक्रियाज्ञानं कलास्मृता"
"काचपात्रादिकरणविज्ञानन्तु कलास्मृता"
घोषयन्त्येतानिपद्यान्यार्याणां रसायनशास्त्रज्ञत्वम् ॥

सन्तीमानि सकलवाक्यानि शुक्रनीतेः सेयं शुक्रनीतिः शुक्राचार्यविराचितैवेत्यत्रनास्तिविप्रातिपत्तिः, शुक्राचार्यनामसंकीर्तनं महाभारतेऽपि कृतमिति सोयम्महाभारतात्प्राचीनः प्रतीयते ॥

यदिदं श्रूयते वाल्मीकिरामायणबालकाण्डपञ्चम सर्गः—

"अयोध्यानाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरीनिर्मिता स्वयम् ॥
आयतादशचद्वेच योजनानी महापुरी ।
श्रीमतीत्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेननित्यशः"
राजमार्गेण महाता सुविभक्तेन शोभिता ।
"सर्वयन्त्रायुधवती शतघ्नी शतसंकुला ।"

तेन विजानीमस्तास्मिन्समये भारते व्यापारवृद्धिः प्राचुर्येणाऽभवत्; यतो हि महतोमहतां नगराणां तदानीमेव रचना सञ्जायते यदा देशे समुन्नतो व्यापरो भवति ॥

यथात्र वर्णिता अयोध्यापूस्तथा विज्ञायते तस्याः सुमहान् प्रसारः स्पष्टमुक्तञ्च सूरिणाः—

"नानादेशनिवासैश्चवाणिग्भिरुपशोभितेति"

अधिगम्यते चान्यदपि शुक्रनीतौ प्रथमाऽध्याये:—

"यामिकैः रक्षितोनित्यं नालिकास्त्रश्चसंयुतः"

द्वितीयाऽध्याये:—

"महानालिकयन्त्रास्थगोलैर्लक्ष्यविभेदिनः"

"लघुयन्त्राग्नेयचूर्णं वाणगोलासिकारिणः"

तथाहि चतुर्थाऽध्यायस्यषष्ठप्रकरणेः—

"नालिकं द्विविधं ज्ञेयं वृहत्क्षुद्रविभेदतः
तिर्यगूर्ध्वच्छिद्रमूलं नालं पञ्चवितास्तिकम्"
मूलाग्रयो लक्ष्यभेदि तिलविन्दुयुतंसदा ।
यन्त्राघाताग्निकृद् ग्रावचूर्णधृक्कर्णमूलकम् ॥
सुकाष्ठोपाङ्गबुध्नञ्चमध्याङ्गुलविलान्तरम् ।
स्वान्तेग्निचूर्णसन्धातृशलाकासंयुतंदृढम् ॥
"लघुनालिकमप्येतत् प्रधार्य पत्तिसादिभिः"

अत्रत्यं नालिकास्त्रवृत्तं सर्वथाऽपि सुप्रसिद्धवन्दूकास्त्रसमम्प्रतिभाति तर्हि कथन्नाम नोच्येतयदिदं नालिकास्त्रं नामास्त्रं तद् भारतीयेभ्य एवाधिगतन्पाश्चात्यैरिति यतो ह्येकादशशतकात्प्राक् पाश्चात्यजनसमाजे वन्दूकास्त्रस्य नामाऽपि नाश्रूयत ॥

तदनु अधोङ्कितपद्यैरस्मिन्नालिकास्त्रे प्रयोजनीयेन चूर्णेन कीदृशेन भाव्यमिति प्रदर्शयाति :—

"गोलो लोहमयो गर्भगुटिकः केवलोऽपिवा ।
सीसस्यलघुनालार्थे ह्यन्यधातुभवोऽपिवा ॥
सुवर्चिलवणात्पञ्चपलानि गन्धकात्पलम् ।
अन्तर्धूमविपक्कार्क स्नुह्याद्यङ्गारतः पलम् ॥
शुद्धात् संग्राह्य सञ्चूर्ण्य सम्मील्य प्रपुटेद्रसैः ।
स्नुह्यर्काणां रसोनस्य शोषयेदातपेनच ॥
पिष्ट्वाशर्करवच्चैतदाग्निचूर्णं भवेत् खलु ॥"

इदमेव नालिकास्त्रं भुशुण्डीशब्देन महानालिकास्त्रं शतघ्नी शब्देन च रामायणे महाभारते च सुप्रसिद्धं व्यवह्रियमाणं दरीदृश्यते ॥

तथाऽपरेषां शस्त्रास्त्रादीनां वर्णन मुपलभामहे, येषां सम्प्रति नामाऽपि न श्रूयते यान्कल्पयितुमपि न प्रभवन्ति पाश्चात्य-विज्ञाः ॥

श्रूयते छान्दोग्योपनिषदि:—

"स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणञ्चतु-र्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाको वाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमीति"

इदमखिलं विज्ञायाऽपि कोहिनाम एतादृशः परदेशसम्भव-सभ्यतादासो भविष्यति योह्यार्यान्निजपूर्वजान्प्राकृतज्ञानविही-नान्वदिष्यति ॥ एतावता समासतया आर्याणां प्राकृत ज्ञानवित्तत्व म्प्रदर्शितमस्माभि रथेदानीम् तत्कालिक सभ्यसमाजऽधिकृतवक्ष्यमाण-

गुणान्संक्षेपेण प्रदर्शयामः—

(१) स्वातन्त्र्यम् (२) ब्रह्मचर्यनिष्ठा (३) स्वयम्वरविवाहः (४) स्त्रीणांसंमानः (५) प्रजातन्त्रराज्यम् (६) धर्मनिष्ठा (७) परोपकारवृत्तिः (८) अहिंसा वृत्तिरिति ।

(१) स्वातन्त्र्यम्

तत्थ्यमुक्तं मानवेन्द्रेण मनुनाः—

"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्"

तथाच शुक्रनीतौ तृतीयाध्याये:—

"पारतन्त्र्यात्परं दुःखं न स्वातन्त्र्यात्परं सुखम्"

परपादाक्रान्तजाति जगति सभ्येति वक्तुं न युज्यते स्वल्पतरेतरोऽपि देशश्चेत्स्वतन्त्रस्तर्हि जगति तस्य सर्वेप्यपरदेशवासिनः श्लाघांविदधति; परं सुमहानपि चेत्कश्चन परतन्त्र स्तत्रत्याः जनाः विद्वांसो बुद्धिमन्तोऽपि भवेयुस्तदाप्यर्धसभ्यशब्दभाग् भवति ॥ परतन्त्रदेशस्य यादृशी दुर्गति र्जायते साम्प्रतं तां को न जानीते; नह्यस्मिन्समये तां दशां वर्णयितुमियंपरतन्त्रा लेखिनी कथमपि समर्थेत्येनं विषयमत्रैव दूरतः परिहृत्य प्रसङ्गपरिप्राप्तविषयमनुसरामः ॥ प्राङ् महाभारतयुद्धान्नाभवदयं देशः स्वप्नेऽपि परतन्त्रः पालयति महीं दशरथे सार्वभौमराज्यमासीदार्याणाम् यतो विभिन्नप्रदेशेभ्यो महाराजाज्ञया समाहूता नानादेशवासिनो माण्डलिका ससमागताः रामं राज्येऽभिषिञ्चति महीभुजि दशरथे ॥

किञ्च चीनदेश वास्तव्यो भगदत्तः पातालदेशीयो बभ्रुबाहनो हरिवर्षीयो विडालाक्षः सर्वेप्येते राजानः अजातशत्रोर्युधिष्ठिराज्ञया राजसूययज्ञे समागताः, अधिकारमतन्त्रा कथमिव युधिष्ठिर आज्ञया

एतानाह्वयेदिति प्रतीयते आस्वायम्भवाद् युधिष्ठिरपर्य्यन्तं भारतीयानामार्य्याणां चक्रवर्ति राज्यमभवत् ॥

स्वाधीनता सुखमनुभवता भारतेन स्वायत्ती कृता लङ्कादयोऽपि देशाः स्वोदारतया स्वतन्त्राः कृताः प्रशस्यतरं हि भारतभूषणानां रामचन्द्रादीनां तत्कर्म; उदारचरितानां सभ्यानां वसुधैव कुटुम्बकं भवतीत्यत्र नास्ति सन्देहः ॥ संसारेस्मिन्नास्ति कस्याप्यधिकारोयदयमपरजनं स्वाधीनं विदध्यात् ॥ परमेश्वरस्य पुत्रत्वेन स्थिताः सन्ति सर्वेऽपि मनुष्याः समाऽधिकारिणः ॥ परं सम्प्रति सभ्यम्मन्यसमाजेषु विलोकयामो यान्देशानाधिकुर्वन्ति तत्रत्य जनतां निजदासभावेन स्थितां जानते; तत्रत्यां महीमप्यात्मीय गर्भैश्वर्यमिवाभिमन्वते; विदधते च बहुविधानत्याचारान्; तथा प्रयतन्ते यथा न कथमपि परतन्त्रा जातिः स्वातन्त्र्य लाभं कर्तुम्प्रभवेदिति; सुस्पष्टोऽयं भेदो नव्यपाश्चात्यसभ्यतायाम्प्राचीनार्यजनसभ्यतायञ्चेति ॥

(२) ब्रह्मचर्यनिष्ठा

"अग्ने व्रतपते व्रतंचरिष्यामीत्यादि" मन्त्रैरुपदिष्टब्रह्मचर्यव्रतधारणैकसाधनेयं गुरुकुलप्रणाली भारते प्राचीनतमेति प्रमीयते; ॥

प्रातस्स्मरणीयेन जगदभिरामेण रामेण पञ्चविंशति वर्षाऽवस्थायामेवोद्वाहो व्यधायि ॥

श्रूयते हि रामायणेः—

"मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः ।
अष्टादश हि वर्षाणि ममजन्मानि गण्यते" ॥

अत्राह टीकाकृत्:—

"वननिर्गमनकाल इतिशेष"।

विवाहोत्तरमेव सत्वरं रामस्य राज्याभिषेकहेतोर्वनगमनं प्रसिद्धमिति ज्ञायते ब्रह्मचर्यधारणपूर्वकमेव रामेण गृहस्थाश्रमेपदं न्यधायि आसीच्चसीतातदानीमष्टादशवार्षिकी ॥

उपनिषत्सु सत्यकामस्यः—

"ब्रह्मचर्य्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति"

वाक्यै ब्रह्मचर्य्यधारणं प्रसिद्धमित्थं श्वेतकेतोरपि ॥ मनुना मानवधर्मशास्त्रे ब्रह्मचर्यस्य गुणवर्णनं कुर्वता कथं व्यलेखीति मनुस्मृति दर्शन मात्रेणैवावसीयते ॥

भरतस्य लक्ष्मणस्य चः—

"एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।
नाहं जानामि केयुरे नाहं जानामि कुण्डले ॥
नू पुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्"

इत्यादि पद्यैर्यतित्वं लोकप्रसिद्धमेव, महाभारतसमये भीष्मकृतं ब्रह्मचर्यव्रतधारणं नितरामनुसरणीयमेव ॥

यद्यपि बहुत्र ब्रह्मचर्यस्य महिमा श्रूयते संस्कृतसाहित्ये तथापि राज्ञो दशरथस्य दारत्रयी ? पाण्डुपुत्राणां पञ्चानामप्येकस्याः कृष्णायाः स्त्रीत्वेनोररी करणमार्यजनसमाजेऽक्षालनीयङ् कलङ्क मिवाभाति ॥

परन्तथाऽपि सम्पत्तिप्राचुर्य्यात्प्राचुर्येण व्यभिचारे प्रवृत्तिर्लक्ष्यते यथा पाश्चात्यानां न तथार्यजनसमाजे ह्युपलभामहे ॥

(३) स्वयम्वरविवाहः ॥

पतिपत्नी व्यवहारो यादृशो यूरोपदेशे पातालदेशे वा विद्यन्

स सर्वथाऽपिगर्हणीयः; श्रूयते दृश्यते च पुस्तकेषु यदि पत्नी निजपति दुर्व्यवहार कारणात् खिन्नमनस्का सञ्जायते; भवति वा पर पुरुषासक्तमानसा तर्हि सा तम्परित्यज्यान्यं वरं वृणोति; इत्थं मनुष्या अपि बहुत्र चरन्ति; तेन व्यभिचारस्य दुःखोद्भावको मार्गः प्रतिदिनमेधते ॥

यदि स्वयम्वरविवाहेनोद्वहेत् कामपि कश्चित्तर्हि तयोर्वियोगस्य सम्भावना ह्यसम्भाविनी सभ्यसमाजे भाव्यमेवाश्यं स्वयम्वर-विवाहेन, आसीच्चेयं प्रथा आर्येषु; नलाजरामयुधिष्ठिरादीनां दृष्टान्त-त्वेन विद्यमानत्वात् ॥

(४) स्त्रीणां संमानः ॥

सदस्याः !

ऐतिहासिकानामिदमस्ति मतं यदि कस्याऽपि मनुष्यसमाजस्य जातेर्वा सभ्यता परीक्षणीयाऽस्ति तर्हि पूर्वोक्तजात्युद्भवानां नारीणां स्थितिरप्यवश्यं परीक्षणीयेति; तदिदानीम्प्राचीनार्यजाति-ललनागणस्थितिमालोचयामः धर्म्मार्थापत्नी धर्म्मपत्नीति धर्म्मपत्नी श-ब्दस्य संस्कृतभाषायां विद्यमानतैव द्योतयति आर्येषु पतिपत्नी सम्बन्धो धर्ममादायैव प्रवृत्तो नत्वधर्मं व्यभिचारादिकम् ।

इयं नारी अर्द्धाङ्गिनी विवाहोत्तरमुद्वाहयितु र्जायत इति पतिपत्नी सम्बन्धोऽभङ्गुरो दृढः प्रतीयते; सीतायाः रामस्यच पतिपत्नी भावसम्बन्ध आदर्शरूपेण विद्यमानोऽद्याऽपि भारतम्भूषयति ॥

उक्तं मनुना मानवधार्म्मे:—

"पितृभि र्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरै स्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः" ॥
"यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः" ॥
"शोचंति जामयो यत्र विनश्यत्याशुतत्कुलम् ।
नशोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धतेतद्धि सर्वदा" ॥
"तस्मादेताः सदापूज्याः भूषणा च्छादनाशनैः ।
भूति कामै र्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषुच" ॥

एतावता स्पष्टं मनुसमये जायन्तेस्म नारीणां सम्मानादिकाः क्रियाः ॥

यदिदमुपलभ्यते वाल्मीकिरामायणायोध्याकाण्डाष्टसप्ततितमे सर्गः—

"इमामपिहतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।
त्वाञ्च माञ्चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यतिध्रुवम्" ॥

तेन ध्रुवमेष निश्चयो यन्नारीणां ताडनादिकमधर्मोद्भावकममन्यन्त रामसमसमयवर्तिनो जनाः । तथाच श्रूयते किष्किन्धाकाण्डत्रयस्त्रिंशत्तमेसर्गः—

"त्वद्दर्शने विशुद्धात्मा नस्म कोपं करिष्यति ।
न हि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्तिदारुणम्" ॥

एतावता दर्शितमस्माभिरार्य्यैं र्नारीणां पूजनमक्रियत परम्पाश्चात्य जनसमाजे तासां कीदृशी दशाऽभूदिति मैकोलेशब्दैरेव दर्शयामः, मैकोले महाशयेनः—

The state of England in 1685.

The third chapter of Macaulay's History इति निजनिर्मितपुस्तके व्यलेखि;:—

"Husbands, of decent station, were not ashamed to beat their wives." इति

पुराऽभूवन् गार्गी मैत्रेयी प्रभृतयस्सुप्रसिद्धा बहुबिधविज्ञान-पारगाः स्त्रियो भारते ॥

यद्पीदम्पाठितं शुक्राचार्य्येण शुक्रनीतौः—
"मूर्खः पुत्रोऽथवा कन्या चण्डीभार्या दरिद्रता ।
नीचसेवा ऋणंनित्यं नैतत्षट्कं सुखायच" ॥
तेन विज्ञायतआर्यैः कन्यानामपाठनं दुःखोद्भावकममन्यत ॥
श्रूयते च वृहदारण्यकोपानिषदिः—

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयित वै १७ ॥

तथाच बाल्मीकि रामायणायोध्या काण्डे नियता ब्रह्मचारिणीति" सीताया विशेषणमुपलभ्यते ॥ यथा ब्रह्मवेदस्तास्मिँश्चरति योऽसौ ब्रह्मचारी वटुरुच्यते; तथैव ब्रह्म वेद स्तस्मिँश्चरति या सा ब्रह्मचारिणी बालेत्यपि वक्तुं युक्तम् ॥

एतेन आर्येषु नारीणां पाठन प्रणाली प्रथिताऽऽसीत्पुरेति सिद्धान्तः समीहितम् ॥

(९) प्रजातन्त्र राज्यम्

पारिषद्याः !

सम्प्रति राजनैतिकानधिकारानभीप्सुभिर्भारतीयैर्मुहुर्मुहुर्याचमानैरपि इदमेव श्रूयते पाश्चात्य जनसमाजतो यद् भवताम्पूर्वजैर्न कदाचिदपिनियमेन राज्यं कृतमतो न विदन्तिभवन्तः कथमिव प्रजाशासनीयेति ॥

परन्तेषामियं युक्ति स्सर्वथाप्यसमञ्जसा प्रतिभाति नो यदा वयं राज्ञो दशरथस्य शासन प्रणालीमवलोकयामो वाल्मीकि रामयणे; नहि भूभुजादशरथेनैकाकिनाऽक्रियत राजशासनं परमासीन्मन्त्रिसभा तस्य सहाय्यकर्त्री ॥

यदुक्तम्:—

"तस्यामात्या गुणैरासन्निक्ष्वाकोः सुमहात्मनः ।
मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहितेरताः ॥
अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः ।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः ॥
धृष्टि र्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः ।
अकोपोधर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोर्थवित् ॥
ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे ॥
सुयज्ञोप्यथ जावालिः काश्यपोप्यथगौत्तमः ।
मार्कण्डेयस्तुदीर्घायु स्तथा कात्यायनो द्विजः ॥
एतै ब्रह्मर्षिभिर्नित्य मृत्विजस्तस्य पौर्वकाः ।
विद्याविनीता ह्रीमन्तः कुशला नियतेन्द्रियाः ॥
गुरोर्गुण ग्रहीताश्च प्रख्याताश्च पराक्रमैः ।

विदेशेष्वपि विज्ञाताः सर्वतो बुद्धिनिश्चयाः ।
अभितो गुणवन्तश्च नचासन्गुणवर्जिताः ॥
सन्धिविग्रहतत्त्वज्ञाः प्रकृत्या सम्पदान्विताः ।
मन्त्र संवरणे शक्ताः शक्ताः सूक्ष्मासु बुद्धिषु ।
नीतिशास्त्र विशेषज्ञाः सततं प्रियवादिनः ॥
ईदृशैस्तैरमात्यैश्च राजादशरथोऽनघः ।
उपपन्नो गुणोपेतै रन्वशासद्वसुन्धराम् ॥
वा. रा. बा. काण्ड सप्तमेसर्गे ॥

किञ्चभो ?

वृद्धत्वं गतेदशरथे रामराज्येऽभिषेक्तुमाहूता सभाराज्ञा, असति प्रजातन्त्रराज्ये राजा सभासम्मतिमन्तरेणाऽपि यं कमपि वांच्छेत् तस्मै स्वीयं राज्यं दद्यादेव, परं न कृतमित्थं दशरथेन किन्तुः—

"ततः परिषदं सर्वामामन्त्र्य वसुधाधिपः ।
हितमुद्धर्षणं चैवमुवाच प्रथितं वचः ॥
"सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते ।
सन्निकृष्टानिमान्सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान्" ॥
"यदिदं मेऽनुरूपार्थं मयासाधु सुमन्त्रितम् ।
भवन्तोमेनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्" ॥
"अनेक वर्षसाहस्रो वृद्ध स्त्वमसि पार्थिव ।
स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम्" ॥
"इच्छामेहि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ।
गजेन महतायान्तं रामं छत्रावृताननम्" ॥

"अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम् ।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक" ॥
"तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ।
कामतस्त्वं प्रकृत्यैव निर्णीतो गुणवानिति" ॥

इतिसभासम्मत्यनुकूलमेव रामो राज्येऽभिषेक्तुमारब्धः, अतः प्रतीयते आसीद्रामायणसमकालम्प्रजातन्त्रराज्यं भारते, भाव्यमेव सभ्यसमाजे प्रजातन्त्र राज्येनेति ॥

उक्तं शुक्राचार्येण शुक्रनीतौः—

"प्रभुः स्वातन्त्र्य मापन्नो ह्यनर्थायैवकल्पते ।
भिन्नराष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्नप्रकृतिरेवच" ॥
"नहि तत्सकलं ज्ञातुं नरेणैकेन शक्यते ।
अतः सहायान्वरयेत् राजा राज्यविवृद्धये" ॥
"समासतः पुरोधादि लक्षणं यत्तदुच्यते ।
पुरोधाश्च प्रतिनिधिः प्रधानः सचिवस्तथा" ॥
"मन्त्रीच प्राड्विवाकश्च पण्डितश्च सुमन्त्रकः ।
अमात्यो दूत इत्येता राज्ञः प्रकृतयोदश" ॥

अतो ब्रवीतु नाम कश्चिद्दुर्भावकलुषितान्तःकरणो जड़ो मूर्खो वा यदार्य्या कथमिव राज्यमनुष्ठेयामीति नाज्ञासिषुः परं सन्तो न न विदन्त्यत्र तत्त्वम् ॥

(६) धर्मनिष्ठा (७) परोपकारवृत्तिः

वनं प्रतिगते रामे दशरथे च दिवं गते मातामहाऽवास प्रतिनिवृत्तस्य शून्यं सदनं विलोक्य प्रष्टुं प्रवृत्तस्य भरतस्यादिमो ऽयंप्रश्नः—

"कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित् ।
कच्चिन्नाढयो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥
कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।
कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः" ॥

द्योतयति यदि नाम औरसोऽपि राजपुत्रः शासति महीं दशरथे पापमाचरत्तर्हि नादण्ड्योऽभवत्, अपर मनुष्याणान्तु कथैव का ।

अधिगम्यत एव सर्वै र्यदार्याणां धर्मे मतिरासीत् प्राचुर्य्येणेति न तत्र बहु वक्तव्यमस्त्यस्माभिः । राघवेण यज्ञध्वंसकान् राक्षसान् शिलीमुखैःपतत्रिभि र्नयतायमसदनमुपकृतमृषीणामित्यार्य्याणां परोपकार वृत्तित्वमपि लोकप्रसिद्धमेव ॥

अथेदानीमस्मिन् विषये जायते विचारणा किमस्मत्पूर्वजैरार्य्यै-र्मांसभक्षणमक्रियत नवेति तत्रादौ मनुसमयमालोचयामः—

तत्र दृश्यते मानव वाङ् मये:—

"योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्म सुखेच्छया ।
सजीवंश्च मृतश्चैव न कचित्सुखमेधते ॥
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते कचित् ।
न च प्राणि वधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥
समुत्पत्तिञ्च मांसस्य वधबन्धौच देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥
न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
सलोके प्रियतां याति व्याधिभिश्चन पीड्यते ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ताच खादकश्चेति घातकाः ॥
वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च नखादेद्य स्तयोः पुण्यफलं समम् ॥

एतावता इदमेव प्रतीयते यत्तस्मिन्समये मांसभक्षणमार्यैर्ना-क्रियत, यत्पुनः—

"न मांस भक्षणे दोषो नमद्ये न च मैथुने
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला"

इति तदखिलम्प्रक्षिप्तमेव भाति न हि परस्परविरुद्ध न्निगदन्ति सन्तः ॥

श्रूयते च शतपथब्राह्मणेः—

"स धेन्वे चानडुहश्च नाश्नीयाद्धेन्वनडुहौ वा इदꣳ सर्वं बिभृतस्ते देवा अब्रुवन् धेन्वनडुहौ वा इदं सर्वं बिभृतो........तद्धैत-त्सर्वाश्यमिव योधेन्वनडुहयोरश्नीयादन्त गतिरिव तं हाद्भुतमभिजनितो-र्जायायै गर्भं निरबधीदिति, पापकमिति पापी कीर्तिस्तस्माद्धेन्वनडुह-यो नाश्नीयात्"

समालोचित स्समासतया मनु समयइदानीं राम सम समय-न्दृष्टिपथन्नयामः ।

अवलोक्यते वाल्मीकिरामायणायोध्याकाण्डविंशतितमे सर्गे

चतुर्दशहि वर्षाणि वत्स्यामि विजनेवने ।
कन्दमूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम् ॥

तथाचारण्य काण्डैकोनविंशतितमे सर्गे—

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥

तथा हि विंशे सर्गे—

फल मूलाशनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ ।
वसन्तौदण्डकारण्ये किमर्थमुपाहिंसथ ॥

श्रूयते च सुन्दरकाण्डे:—

न मांसं राघवो भुङ्क्ते न चैव मधु सेवते ।
वन्यं सुविहितं नित्यं भक्तमश्नाति पञ्चमम् ॥

एतावता स्पष्टम्प्रतीयिते सताऽपि राजपुत्रेण रामेण मांसभक्षणं नाक्रियत चेन्मृगया तत्परैः क्षत्रियैरपि मांसं नाऽभुज्यत तर्हि कथन्नोच्येत यत्तस्मिन्समये आर्याणां मांसभक्षेण नासीत्प्रवृत्तिः ।

सत्यप्यस्मिन्सीतया प्रयुक्तो रामो यन्मृगयार्थं जगामेतन जागर्ति केषाञ्चिद् हृदये आर्याणां मांसभक्षण प्रतिपादिनीरेका परं सानिर्मूले वेति मन्यामहेसीतया तत्र स्पष्टमुक्तम् ।

सारामममब्रवीद् दृष्ट्वा वैदेही गृह्यतामिति ।
अयं मनोहरः कान्त आश्रमो नो भविष्यति ॥
आर्यपुत्राभिरामो सौ मृगोहरति मे मनः ।
आनैयनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति ॥
समाश्रवन व्रासानां राज्यस्थानाञ्चनः पुनः ।
अन्तः पुरे विभूपार्थो मृगएष भविष्यति ॥
भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभोः ।
मृग रूपमिदं दिव्यं विस्मयं जनयिष्यति ॥

इति पशून्पालयितुमेव मृगयार्थम्प्रवृत्तिरासीत्तदानीं क्षत्रियाणामिति । स्पष्टं द्योतयन्त्येतानि वाक्यानि सत्स्वप्येतेषु प्रमाणेषु संस्कृतसाहित्ये मांसभक्षण प्रतिपादकान्यपि वाक्यान्युपलभ्यन्त इत्यस्मिन्विषये दोलायतीव नो चेतो न निश्चयेन किमपि वक्तुमुत्सहामहे । तत्र तत्रभ वन्तो भवन्तः स्वयं निश्चिन्वन्तु तत्वम् ।

सदस्याः !

अस्मिन् लघुनिबन्धे समासतया आर्याणां सभ्यता प्रादर्शि पूर्वोक्त गुणाना मभावे नैवेयं जातिरिदानीं पर पादाक्रान्तेव लक्ष्यते चेदिदानीमपि वैदिकींवर्णव्यवस्थां पुनरुद्धर्त्तुं समीहेत गुरुकुलं पुष्णन्ती आर्य्यजनता तर्हि सुखप्रदानि तानि प्राचीनतमानि दृश्यानि पुनरपि द्रष्टुं शक्यरन् इत्योम् ॥

शुभम्भूयात् ।

क्या बुद्धदेव नास्तिक थे?

श्री० म० जगन्मोहन वर्म्मा जी लिखित ।

युक्त्या युक्तं वाक्यं बालेनापि प्रभाषितं ग्राह्यम् ।
त्याज्यं युक्तिविहीनं श्रौतं स्यात्स्मार्तकं वा स्यात् ॥

बुद्धदेव महापुरुष थे ।

महात्मा बुद्धदेव के विषय में मुझे आप लोगों को विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं भारतवर्ष के प्रायः समस्त शिक्षित समुदाय इन के पवित्र नाम से परिचित हैं । संसार के बड़े महापुरुषों में यह एक अग्रगण्य महापुरुष थे । महापुरुषों का जन्म संसार में सदा नहीं हुआ करता और न उन के जन्म का वह लक्ष्य होता है, जो इतर जनों के जन्म का है । वे लोग उदारचरित होते हैं और उन के जीवन की प्रत्येक घटना संसार के प्रवाह में एक विचित्र गति की संचालक होती है । उन की शिक्षा उन के आचरण अन्यों के लिये आदर्श होते हैं । वह जन साधारण के समान अन्धपरम्परा के गड्ढे में नहीं गिरते, किन्तु स्वयं बच कर अन्यों के लिये मार्ग तैय्यार करते हैं । भगवान् ने गीता में कहा है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानाय धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

जब जब धर्म की ग्लानि होती, है तब तब धर्म के अभ्युत्थान के लिये महापुरुष जन्म धारण करते हैं और वह सज्जनों की रक्षा तथा दुष्टों का नाश करके सनातनधर्म का स्थापन करते हैं। वे लोकापवाद और निन्दास्तुति की परवाह नहीं करते, किन्तु जिस प्रकार होसके, धर्म को उठाने का यत्न करते हैं। वे लोग अपने जीवन की प्रत्येक घटना से उपदेश ग्रहण करते हैं। संसार का प्रत्येक तृण उन के लिये शिक्षक बनता है, और साधारण से साधारण वस्तु उन्हें अत्यन्त महत्व पूर्ण जचती है। उन के काम साधारण पुरुषों से नहीं होते, किन्तु अप्राकृतिक होते हैं, इसी से उन को अवतार आप्त और उन के वाक्यों को लोग अपौरुषेय कहते हैं।

बुद्धदेव के समय की दशा

महात्मा बुद्ध के समय में भारत की दशा कैसी थी, स्वार्थ ने उस धर्म का कहां तक सत्यानाश कर दिया था, जिस के अभ्युत्थान के लिए बुद्धदेव को देवरूप धारी असुरों से संग्राम करना पड़ा, आप लोगों पर प्रकट करने की इस लिये अत्यन्तावश्कता जान पड़ती है कि विना इस का परिज्ञान हुए महात्मा बुद्धदेव की अवस्था और उन के कर्मों के जिन से वह संसार के महापुरुष कहलाए, यथार्थ गौरव का अनुभव बड़ी कठिनता से हो सकता है। यद्यपि यह विषय इतना बड़ा है कि यदि प्रत्येक अंश का विवरण किया जाय, तो एक पृथक् ग्रन्थ रचा जा सकता है, तथापि समय के संकोच से अत्यन्त संक्षेप से वर्णन किया जाता है:—

(क) वेदों में सैंकड़ों मनमाने मन्त्र स्वार्थियों ने मिला दिये थे, जो अब तक संहिताओं में उपलब्ध होते हैं, इन कृत्रिम मन्त्रों में हिंसा का प्रतिपादन किया गया है, जिन के आधार पर ब्राह्मण ग्रन्थों मे यज्ञों के प्रकरणों में पशुबध की विद्या अब तक जाज्वल्यमान दिखाई पड़ती है । कोई संहिता नहीं जिस में दो चार मन्त्र हिंसापरक न हों । यज्ञों की कौन कहे आतिथ्य तक में गो आदि पशुओं के मांस का प्रयोग दिखाई पड़ता है । दक्षिणा का लोभ यहां तक बढ़ा हुआ था कि धनाढ्य यजमान जिस से पुष्कल धन मिले, वही सब कुछ माना जाता था । ऋग्वेद मण्डल १० । ९ । १०७ मन्त्र २ । ६ । ७ ।

उच्चादिविदाक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदासहते सूर्य्येण ।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदा सोम प्रतिरन्त आयुः ॥
तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहु र्यज्ञन्यं सामगामुक्थ शासम् ।
सशुक्रस्य तन्वो वेदातिस्रो यः प्रथमोदक्षिणया रराध ॥
दक्षिणाश्वं दक्षिणागां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिररायम् ।
दाक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मादक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् ॥

इस में तो दक्षिणा से मोक्ष तक मिलना बताया है । यही नहीं, किन्तु दाक्षिणा देने वाले को ऋषि ब्रह्मा सामगादि सब कुछ बना दिया है, किसी कवि ने ठीक कहा है:—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः ।
स पंडितः सश्रुतिमान् गुणज्ञः ॥

स एव वक्ता सच दर्शनीयः ।
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥

यही नहीं, किन्तु बहुतेरे राजाओं के दान देने की गाथा भी मन्त्रों में मिला दी है । हम कुछ थोड़ी सी गाथाओं का पता आप लोगों को बतलाते हैं, और आग्रह करते हैं कि आप लोग इन पर विचार करें:—

		मण्डल	सूक्त	मन्त्र
१	आसङ्गस्य दानस्तुतिः	८	१	३०–३३
२	विभिन्दो दानस्तुतिः	,,	२	४१–४२
३	पाकस्थाम्नः कौरयाणस्य दानस्तुतिः	,,	३	२१–२४
४	कुरङ्गस्य दानस्तुतिः	,,	४	१९–२१
५	चैद्यस्य कशोर्दानस्तुतिः	,,	५	३७–३९
६	तिरिन्दिरस्य पाराशव्यस्य दानस्तुतिः	,,	६	४६–४८
७	त्रसदस्योर्दानस्तुतिः	,,	१९	३६–३७
८	चित्रस्यदानस्तुतिः	,,	२१	१७ । १८
९	वरोः सौ षाम्णस्यदानस्तुतिः	,,	२४	२८-३०
१०	पृथुश्रवसःकानीतस्यदानस्तुतिः	,,	४६	२१-२४
११	प्रस्करावस्यदानस्तुतिः	,,		५५।५६
१२	श्रुतवर्णअक्ष्यस्यदानस्तुतिः	,,	७४	१३-१५
१३	सावर्णोर्दानस्तुतिः	१०	६२	८-११
१४	कुठश्रवणस्यत्रासदस्यवस्यदा०	,,	३३	४ । ५

इस प्रकार प्रक्षिप्त मन्त्रों से संहिता परिपूर्ण थी और ब्राह्मण ग्रन्थों की तो कथा ही क्या है ।

(ख) यज्ञों में पशुहिंसा का घोर प्रचार था, प्रत्येक यज्ञ मण्डप सूनागार का दृश्य बन रहा था । बड़े २ श्रोत्रियों के लिये "महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्" के अनुसार मांस उपस्थित किया जाता था । ब्राह्मण लोग दया धर्म्म को तिलांजलि दे, मांस से देव पितृ कार्य्य कराते थे और गृहस्थ लोग :—

"य उ विद्वान्मांसमुपासिच्योपहरति । यावद्वादशाहेनावरुन्धे-तावदेनेनावरुन्धे" ।

के अनुसार अपनी इति कर्तव्यता मानते थे ।

(ग) जातिवाद की प्रबलता थी और गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था की प्रथा चली गई थी । गुणकर्म्म हीन ब्राह्मण ब्रुव लोग अपने को श्रेष्ठ मानते तथा इतरवर्णों को अपना दास समझते थे । कुछ लोग जो कुछ पढ़ते थे, वह लोग सारा जन्म यज्ञों के करने और कराने में व्यतीत करते थे, जिन में शायद ही कोई यज्ञ ऐसा था कि जिस में हिंसा न होती रही हो ।

(घ) कुछ लोग ऐसे उत्पन्न हो चुके थे, जिन लोगों ने शरीर को कष्ट देकर "देहदुःखं महत्फम्" के वाक्य को चरितार्थ किया था, बड़े २ अनशन व्रतों की सृष्टि हो चुकी थी और "प्रायश्चित्त" शब्द जो पूर्व वैदिककाल में दोष प्रकाशन' पश्चात्ताप के अर्थ में प्रचरित था चांद्रायणादि रूप कष्ट कारक व्रतों का अर्थ देने लग गया था । कितने लोग उपनिषदों के अर्थों को यथेच्छ घसीट कर इत्थं ब्रह्म इत्थं ब्रह्म कर रहे थे ।

(ङ) ब्राह्मणों का अधिकार इतना प्रबल था कि कोई इन के विरुद्ध मुंह नहीं खोल सक्ता था। मुंह खुला कि वह वृषल की उपाधि से विभूषित हुआ । छूतछात का झमेला चल पड़ा था और एक जाति का पुरुष दूसरी जाति के मनुष्य के हाथ का छुआ और पकाया अन्न नहीं खाता था।

बुद्धदेव का जीवन

ऐसी खींचा खीच के समय में जब धर्म्म और अधर्म्म में घोर संग्राम हो रहा था, धर्म्म लगभग पराजित हो चुका था कि महात्मा बुद्धदेव का अवतार भारतवर्ष के कपिलवस्तु नाम उत्तरकोशल में हुआ । यह जन्म से ही बड़े विचारवान् पुरुष थे, और इन को वेद वेदांगों की उत्तम शिक्षा एक योग्य आचार्य्य ने दी थी। विद्या समाप्त कर गृहाश्रम में प्रवेश किया, राज्य ऐश्वर्य्य सब कुछ होते हुए भी आपने एकान्त में चिन्तन करना आरम्भ किया। थोड़े ही दिनों में पूर्ण विराग को प्राप्त हो, एक दिन रात को घर से निकल जंगल की राह ली, और स्वयं अपनी शिखा को काट गया में एक वट वृक्ष के नीचे आसन मार योगाभ्यास करने को बैठ गये, और यह दृढ़ संकल्प किया:—

> **इहासने शुष्यतिवाशरीरम्**
> **त्वगस्थिमांसं विलयं प्रयाति।**
> **अप्राप्यप्रज्ञां बहुजन्मदुर्लभां**
> **नैवासनाद् देहमिदं चलिष्यति॥**

बहुत काल तक तपश्चर्य्या के उपरान्त जब उन को सम्यक्

ज्ञान वा निर्वीज समाधि प्राप्त हुई, और पूर्ण आत्मिक बललाभ हुआ तब

पपूरयधम्मसंखं पताडयधम्मदुन्दुभि ।
पसारयधम्मधजां धम्मं कुरु धम्मं कुरु धम्मं कुरु ॥

का नाद करते हुए, सर्व साधारण को उपदेश करने तथा धर्म्म का अभ्युत्थान करने में अपनी सारी आयु व्यतीत की । इस महापुरुष को कितने घोर संग्राम धर्म्म की रक्षा करने में करने पड़े होंगे, आप लोग उस अवस्था से जान सक्ते हैं जिस का चित्र पट अभी आप लोगों के सामने खींचा जा चुका है । महापुरुष ने जब देखा कि लोग संस्कृत में कहे हुए वेद मन्त्रों का अनर्थ कर रहे हैं, और मनमानी खींचातानी अर्थों में कर रहे हैं, तो उस ने उस समय की लोकभाषा में सर्व साधारण को शिक्षा देना आरम्भ किया, जो आज तक उन के शिष्यों द्वारा संगृहीत त्रिपिटकग्रन्थ में पाईआती है ।

ब्राह्मणों ने क्यों नास्तिक कहा

जातिवाद का प्रबल खण्डन करनेसे ब्राह्मण लोग इन से रुष्ट हो गये थे, और यही कारण है कि इन्होंने इन को नास्तिक वेद निन्दकादि उपाधियों से विभूषित किया । भारतवर्ष का कोई ही ग्रन्थ होगा, जिस में इन को कुछ २ कुवाच्य न कहा गया हो । जिन के कारण औरों की तो कथा ही क्या है, स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को भी इन को वेद निन्दक कहना पड़ा–सत्यार्थ-प्रकाश पृ ० ३०१ "एक महाभयंकर वेद आदि शास्त्रों का निन्दक बौद्ध वा जैनमत

हुआ सुनते हैं कि एक इसी देश में गोरखपुर का राजा था, उस से पोपों ने यज्ञ कराया उस की प्रियराणी का समागम घोड़े के साथ कराने से उस के मर जाने पर पश्चात् वह वैराग्यवान् होकर अपने पुत्र को राज्य दे, साधु हो पोपों की पोल निकालने लगा इत्यादि ।"

नास्तिक किसे कहते हैं

अब इस की छान बीन करने की आवश्यकता है कि यह प्रवाद जो भारतवर्ष में प्रचलित है कि बुद्धदेव नास्तिक वा वेद निंदक थे, कहां तक सत्य है। सब से पहिले यह जानने की अत्यन्तावश्यकता है कि नास्तिक किस की संज्ञा है । पाणिनि व्याकरण के "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः । ४।४।६० से नास्तिक शब्द की सिद्धि होती है । शब्द कल्पद्रुम में नास्तिक शब्द का अर्थ "नास्ति परलोक ईश्वरोवेति मतिर्यस्य । नास्ति परलोको यज्ञादि फलं ईश्वरोवेत्यादि वाक्येन कायति शब्दायते इति" किया गया है, और मनु भगवान् ने "नास्तिको वेदनिन्दकः" कहा है । इन सब का फलितार्थ यह है कि नास्तिक शब्द निम्नलिखित व्यक्तियों पर चरितार्थ हो सकता है:—

(क) जो परलोक न मानता हो।

(ख) जो ईश्वर को न मानता हो ।

(ग) जो यज्ञादि कर्म के फल को न मानता हो ।

(घ) जो वेद का निन्दक हो ।

अब प्रत्येक विषय पर हम **त्रिपिटक** ग्रन्थ के प्रमाणों द्वारा आप को दिखलाते हैं कि महात्मा बुद्धदेव नास्तिक नहीं

थे, वरन एक वैदिक मतानुयायी उच्च कोटि के ऋषि कल्प आस्तिक महापुरुष थे, जिन पर केवल जाति वादादि पाखण्डों के खण्डन करने के कारण यह लांछन ब्राह्मणों ने लगा दिया। जिस का अपाकरण प्रत्येक आर्य्य वेद मतानुयायी का परम कर्तव्य है। क्योंकि "सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सदा उद्यत रहना चाहिये" इस ऋषि वाक्य के तब ही हम सच्चे मानने वाले और अनुगामी हो सकते हैं।

बुद्धदेव परलोक को मानते थे इस विषय में यद्यपि शायद ही किसी को विवाद हो कि बुद्धदेव परलोक को नहीं मानते थे, क्योंकि आज कल यह सभी विद्वान् स्वीकार कर चुके हैं कि बुद्धदेव कर्म फल और परलोक दोनों को मानते थे और सभी बौद्ध भी ऐसा मानते हैं। पर तब भी इस विषय को बुद्ध वाक्यों से ही दर्शाना अपना परम कर्तव्य इस लिये समझता हूं कि इस का न मानना भी नास्तिक का एक चिन्ह है। **सेलसुत्त** में भगवान् ने कहा है:—

न हि सो उपक्कमो अत्थि येन जातानमीय्यरे ।
जरम्पि पत्वा मरणं एवं धम्मा हि पाणिनो ।।
फलानामिव पक्कानं पातोप पतनोभयं ।
एवं जातान मच्चानं निच्च मरणतोभयं ।।
यथा हि कुम्भकारस्य कतामत्तिक भाजना ।
सब्बे भेदन परियन्ता एवं मच्चान जीवितं ।।
दहरोच महन्ताच येबाला येच पण्डिता ।

सब्बे मच्चुवसं यन्ति सब्बे मच्चु परायना ॥
ते संमच्चु परेतानं गच्छतं परलोकतो ।
न पितातायते पुत्तं ञाती वा पनजातके ॥
पेक्खतं ये वजातीनं पस्सलालपनं पुथु ।
एकमेको च मच्चानं गोवज्झो वियनीय्यति ॥
एव मब्भाहते लोको मच्चुना च जराय च ।
तस्माधीरा न सोचन्ति विदित्वा लोकपरियायम् ॥

कोकालियसुत्त में कहा है:—

न हिनस्सति कस्स चिकम्मं एति हतं लभतेव सुवामी ।
दुक्खं मन्दो परलोके अत्तनि पस्सति किब्बिसकारी ॥

इस का कोई उपाय नहीं है कि उत्पन्न प्राणी की मृत्यु न हो, संसार में प्राणियों का यह धर्म है कि वृद्ध होते और मरते हैं। जैसे पके हुए फल को सदा गिरने का भय है, इसी प्रकार उत्पन्न हुए प्राणियों को नित्य ही मरण भय लगा रहता है। जैसे कुम्हार के बनाये हुए मिट्टी के बर्तनों की स्थिति तब तक है, जब तक कि ठोकर लग कर उन का प्रध्वंस न हो। इसी प्रकार मरणशील मनुष्यों का जीवन उन के मरण तक है। छोटे हों वा बड़े, मूर्ख हों वा पण्डित, सब मृत्यु के वश होंगे, और सब का शरीर नाशमान् है। उन मृत प्राणियों को परलोक में जाने से न बाप बेटे को बचा सकता है, न जाति वाला अपने जाति वाले को। समस्त जाति के देखते हुए और उन के बार २ रोने पर भी एक २ कर के मृत्यु वैसे ही ले जाती है, जैसे गोघातक

गौओं को । इस प्रकार संसार मृत्यु और जरा से नित्य नाश किया जाता है, इसी लिये धीर जन इसे लोक का धर्म समझ कर शोच नहीं करते ।

किसी का किया कर्म नाश नहीं होता, उस का करने वाला (स्वामी) उस को अवश्य पाता है और मन्द पापीजन परलोक में अपने किये कर्मों का फल दुःखरूप में पाते हैं ।

बुद्धदेव ईश्वर को मानते थे

महात्मा बुद्धदेव के वचनों में ब्रह्म के अर्थ में ईश्वर शब्द नहीं आया है। ब्रह्म जगत् को सांख्यशास्त्र के समान प्रकृति से उत्पन्न अकर्तृक मानते थे । वह ब्रह्म की सत्ता को मानते थे और उस को अनिर्वचनीय कहते थे । **सभियसुत्त** में कहा है:—

सुत्वा सब्ब धम्मं अभिञ्ञाय लोके,
सावज्ञा नवज्जायदात्थि किञ्चि ।
अभिभू अकथं कथिं विमुत्तो ।
अनिघं सब्बधिमाहु सोत्थियेति ॥

समस्त पदार्थों के गुणों को श्रुति से जान कर और लोक में उन को साक्षात् कर कर्तव्याकर्तव्य ग्राह्यत्याज्य निर्वचनीय और अनिर्वचनीय जितने पदार्थ हैं सब को जान अकथं कथि (अनिर्वचनीय को पदार्थों अर्थात् जीव ब्रह्म और प्रकृति) को अनुभव कर जा विमुक्त पाप शून्य सब का तत्त्ववेत्ता पुरुष है वह श्रोत्रिय पद वाच्यहै वह संसार को प्रवाह से अनादि और पुरुष वा ब्रह्म को अकर्त्ता मानते थे कहा है:—

न हेत्थदेवा ब्रह्मा वा संसारस्सात्थिकरको ।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति हेतुसम्भारपच्चया ॥

कोई देवता वा ब्रह्मा संसार का कर्ता नहीं है हेतु भाव से धर्म्म ही से प्रवर्तित होता है । हमारे यहां भी सांख्य शास्त्र में कहा है "असङ्गोयं पुरुषः" ऋग्वेद मण्डल १ । १६४ । ४ में

कोददर्श प्रथमं जाय मान
मस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या आसुरसृगात्मक्वसि
त्को विद्वां समुपगात् प्रष्टु मेतत् ॥

सृष्टि कथा को स्पष्टरूप से कल्पना प्रसूत दर्शाया है ।

ब्रह्म के अनिर्वचनीय होने के विषय में उपनिषद् तथा संहिताओं में वहुतेरे मन्त्र हैं जिन में ब्रह्मको अनिर्वचनीय कहा है । इन मन्त्रो का मुझे आप के समक्ष उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है केवल दो मन्त्र पर्य्याप्त हैं ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येतितिष्ठ-
त्तस्मिन्नापो मातरिश्वा दधाति ॥
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्य वाह्यतः ।

इस में विरुद्ध गुणोंके निदर्शन द्वारा ब्रह्म की अनिर्वचनीयता प्रतिपादित की गई है ।

एकस्थल में बुद्धदेव कहते हैं:—

अभिञ्ञेय्यं अभिञ्जातं भावेतब्बं च भावितं ।
पहातब्ब पहीनं मे तस्माबुद्धोस्मि ब्राह्मण ॥
ब्रह्मभूतो अतितुलो मारसेनप्पमद्दनो ।
सब्बामित्तवसीकत्वा मोदामि अकुतोभयम् ॥ सेत्रसुत्त ।

मैं ने जो जानने योग्य था, उसे जान लिया जो भावना करने योग्य था उसकी भावना करली, और जो त्यागने योग्य था, उसे त्याग दिया, इसलिये हे ब्राह्मण मैं बुद्ध जागा हुआ हूं—गीता में भी कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सानिशा पश्यतो मुनेः ॥

भगवान् बुद्ध कहते हैं मैं ब्रह्मभूत हूं और ब्रह्म के अति तुल्य होगया हूं मैंने मार (जन्म मरण के प्रवाह में लाने वाले) की समस्त सेना को नाश करडाला है, मैंने समस्त जगत् को मित्र भाव से वशीभूत कर लिया है अतः मैं ब्रह्मानन्द में मग्न हूं। मुझ को कहीं भय नहीं है। वेदों में भी कहा है:—

यस्तुसर्वाणिभूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभू द्विजानतः ।
तत्र कोमोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

जीवात्मा के विषय में मुझे उन के विचारों पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिसे परलोक स्वीकार है, वह आत्मा

को अवश्य स्वीकार करेगा। चाहे वह इसके लिये जो शब्द चाहे प्रयोग करे। विना जीवात्मा की सत्ता स्वीकार किये जन्मान्तर का स्वीकार होही नहीं सकता। रहा जीवात्मा का स्वरूप सो कैसा है, इसका कहना नहीं होसक्ता और इसी लिये महात्मा बुद्ध देव इसे अनिर्वचनयि मानते थे। वह कहते हैं:—

यस्स मग्गं न जानासि आगतस्स गतस्स च।
उभे अन्ते विसम्पस्सं निरत्थं परिदेवसि॥ सल्लासुत्तं।

जिसके मार्ग को तुम नहीं जाने कि कहां से आया है और कहां जायगा दोनों ओर जिस का ज्ञात नहीं, उस के जानने के लिए क्यों शिर पच्ची करता है। उपनिषद् में भी कहागया है:—

आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेनं,
आश्चर्य्यवद्वदति तथैवचान्यः।
आश्चर्य्योस्य वक्ताकुशलोस्यलब्धा,
आश्चर्य्योस्य ज्ञाताकुशलानुशिष्टा॥

बुद्धदेवयज्ञादि कर्म फलों को मानते थे

यद्यपि "बुद्ध देव के परलोक मानने ही क अन्तर्गत यह विषय आगया है, तथापि जब बुद्ध देव पर यज्ञों और वेदों के खंडन का दोष आरोपित किया जाता है, तब हमें उन के ही वाक्यों से यज्ञों और यज्ञादि कर्मों के फलों को मानना आप लोगों को दिखाना चाहिये। सेल सुत्त में भगवान् बुद्धदेव का वचन है "अग्गिहुत्त मुखायञ्ञा सवित्ती छन्दसानं मुखं" अर्थात् अग्निहोत्र यज्ञों में प्रधान है और सावित्री वेद मन्त्रा में प्रधान है हमारे

यहां भी एक श्रुति है "एतद्वैयज्ञस्य मुखं यदग्निहोत्रं" इस वाक्य से बुद्ध वाक्य का शब्द प्रति शब्द मेल है अपिच बुद्धवाक्य को इस श्रुति का यदि अनुवाद कहा जाय तो अनुचित नहीं। माघसुत्त में कहा गया है:—

यो यजेति तिविधं यञ्ञ सम्पदं,
आराधये दक्खिणे य्येहि ताहि।
एवं यञ्जित्वा सम्मायाच योगो,
उप्पञ्जते ब्रह्मलोकेति ब्रूमि ॥

जो पुरुष आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध यज्ञ सम्पद् की आराधना करता है और दक्षिणाग्नि में अग्निहोत्र करके शिष्ट अन्न का भोजन करता है ऐसा पुरुष सब प्रकार से याचना करने के योग्य है अर्थात् दानपात्र है और वह अपने कर्मों के फल से शरीर त्याग करने पर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। श्रुति में भी कहा है:—

एवं कर्माणि कुर्वन्हि जिजीविषेच्छतं समां।
एवं त्वयिनान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

महात्मा बुद्धदेव यज्ञों में हिंसा का होना ऋषि मर्यादा के विरुद्ध मानते थे और वह हिंसा प्रतिपादक वाक्यों को कृत्रिम और लोभग्रस्त पुरुषों के रचे और प्रक्षिप्त मानते थे। ब्राह्मण धम्मिकसुत्त में कहा है:—

तण्डुलं सयनं वत्थं सप्पी तेलञ्ञ याचिय।
धम्मेन समुदानेत्वा ततो यञ्ञ मकप्पयुं ॥

उप्पट्टितस्मिं यञ्ञस्मिं नासुगावोहनिं सुते ।
यथा माता पिता भ्राता अञ्ञेचापि च पातका ॥
गावोनो परमोमित्ता यासुजायन्ति ओसधा ।
अन्नदा बलदा चेता वणदा सुखदा तथा ॥
एतमत्थ वसंकत्वा नस्सुगावो हनिंसुते ।
सुखमाला महाकाया वणवन्तो यसस्सिनो ॥
ब्राह्मणसेहि धम्मेहि किञ्चाकिञ्ञे सुडस्सुका ।
यावलोके अवतिं सुसुखमेधित्थयम्पजा ॥

चांवल, बिछावन, वस्त्र, घी, तेल गृहस्थों से याचना कर प्राचीन ऋषिगण अन्तेवासियों को देते हुवे उसी घी चांवल आदि से यज्ञ करते थे और उस यज्ञ में गो आदि पशु हिंसा नहीं करते थे। जैसे माता, पिता, भाई और अन्य जाति वाले लोग हैं गायें भी हमारी वैसे ही हितु हैं जिन से ओषधरूपी दूध उत्पन्न होता है। गायें अन्नदा, बलदा, वर्णदा और सुखदा हैं। इस अर्थ को विचार में रखते हुवे वह गायों की हिंसा नहीं करते थे। उस समय महर्षिगण सुकुमार, महाकाय, वर्णवान्, यशस्वी और अपने कर्तव्याकर्तव्य में उत्सुक थे और जब तक वे लोग ऐसे थे यहां प्रजा में सुख का राज्य था। फिर उन्हीं महर्षियों के कुलोत्पन्न ब्राह्मणों को जब लोभ ने ग्रसा तो वे लोग इक्ष्वाकु राजा के पास बहुत से हिंसापरक मन्त्र रच कर वार वार गये और कितने ही अश्वमेध, पुरुषमेध, वाजमेधादि यज्ञों को कराया। महात्मा बुद्धदेव ने कहा है:—

तेत्तत्थ मन्त्रे गन्थित्वा उक्काकं तदुपागमुं।
पभूत धन धन्नोसि यजस्सु बहुतेधनं॥
ततो च राजा सञ्ञत्तो ब्राह्मणेहि रथेसिभो।
अस्समेधं पुरिसमेधं वाजपेयं निरग्गलं॥
एते यागे यजित्वा न ब्राह्मणानं अदाधनं।
एसो अधम्मो दण्डानं ओक्कन्तो पुराणो अभू॥
अदूसिकायो हञ्ञन्ति धम्माधंसेन्ति याजका।

वे बहुत से कृत्रिम मन्त्र बना कर इक्ष्वाकु राजा के पास जाकर बोले "हे राजन्! आप प्रभूत धन धान्य हैं आप यज्ञ कीजिये आप के पास बहुत धन है। तब राजा ने ब्राह्मणों से ऐसा कहे जाने पर अश्वमेध, पुरुषमेध, वाजपेयादि अनर्गल वेद विरुद्ध यज्ञों को करके ब्राह्मणों को बहुत सा धन दिया। इस प्रकार यह अधर्म्मरूप पुराण वा ब्राह्मणधर्म्म इक्ष्वाकु के समय से प्रचलित हुआ, जिस में अदूषक पशु आदि प्राणियों की हिंसा कराकर याजक लोग धर्म का ध्वंस वा नाश करते हैं। इस प्रकार महात्मा बुद्धदेव ने यज्ञों में हिंसा के प्रचार के इतिहास को लिखा है। वह यज्ञों को कर्त्तव्य और श्रेष्ठ मानते थे पर हिंसा का यज्ञों में प्रचार और हिंसापरक मन्त्रों को प्रक्षिप्त और ऋषिमर्यादा विरुद्ध समझते थे। उन का कथन है:—

पाणं न हाते न च घातयेय्य,
न चापि जञ्ञा हननं परेसं।
सब्बे सुभूते सुनिधाय दण्डं,
येथावराये च तसन्ति लोके॥

प्राण को न मारो न मारने की आज्ञा दो और न किसी के मारने को जानो। सब भूतों को चाहो वह स्थावर हों वा त्रस, अभयदान दो।

महात्मा बुद्धदेव वेदों को मानते थे

महात्मा बुद्धदेव ने कहा है:—अग्गिहुत्त मुखायञ्ञा सावित्ती छन्दसानं मुखं।

अग्निहोत्र यज्ञों में प्रधान है और सावित्री छन्द अर्थात् वेदमन्त्रों में श्रेष्ठ है। मनुजी ने कहा है:—

सावित्री त्रिपदा चैव विज्ञेयो ब्रह्मणोमुखम्।

हम कह सकते हैं कि एक ही आशय दो भिन्न भाषाओं और मुखों से कहा गया है। बुद्धदेव केवल वेदपाठ मात्र ही से किसी का वेदज्ञ होना स्वीकार नहीं करते थे, किन्तु वह शीलादि गुण कर्म का होना परमावश्यक मानते थे। वह कहते हैं:—

वेदानि विचेय्य केवलानि।
समणत्वजाति ब्राह्मणानं॥
सर्व्ववेदनासु वीतरागो।
सर्व्वंवेदमनिच्चवेदगूसो॥

जो वेदों को पढ़ और केवल अर्थात् उपनिषद् वाक्यों को चयन कर कर्मकाण्ड को समाप्त करे और सब वेदनाओं से वीतराग हो संसार के समस्त व्यवहारों को अनित्य जाने वह वेदज्ञ है।

जातिवाद का खण्डन

हम ऊपर पृथक् २ महात्मा बुद्धदेव के वाक्यों ही से आप लोगों को यह दिखला चुके हैं कि महात्मा बुद्धदेव में कोई लक्षण नास्तिक का संघटित नहीं होता

है । यह सब कलंक ब्राह्मणों ने केवल जातिवाद के खण्डन करने के कारण उन पर लगा रक्खे हैं । अब कुछ थोड़ा सा दर्शन उनके जातिवाद खण्डन का आप लोगों को कराते हैं:—

एक समय इच्छातंगल स्थान में दो ब्राह्मण भारद्वाज और वासिष्ठ गोत्रियों में विवाद हुआ था, भारद्वाज का पक्ष था कि ब्राह्मण जाति से होता है और वासिष्ठ कहता था कि ब्राह्मण गुण कर्म से होते हैं । दोनों भगवान् बुद्धदेव के पास गये और अपना अपना पक्ष कह कर महात्मा बुद्धदेव से व्यवस्था चाही । भगवान् बोले–

तेसं वोहं व्यक्खिस्सं आनुपुव्वं यथातथं ।
जातीविभङ्गं पाणानं अञ्ञमञ्ञा हिजातियो ॥
तिणरुक्खेपि जानाथतचापि पटिजातरे ।
लिङ्गं जातिमयं तेसं अञ्ञमञ्ञाहि जातियो ॥
ततो कीटे पतङ्गेच याचकुन्तकिपिल्लिके । लि०
चतुप्पदेपि जानाथखुद्दकेच महल्लके ॥ लि०
पदूदरेपि जानाथ उरगेधीघापि ट्ठिके । लि०
ततोमच्छेपि जानाथ उदके वारिगोचरे ॥ लि०
ततो पक्खी विजानाथ पत्तयाने विहङ्गमे । लि०
यथा एतासुजातीसु लिङ्गजातिमयंपुथु ।
एवं नात्थिमनुस्सेसु लिङ्गं जाति मयपुथु
नकेसेहि नसीसेहि नकणेहि नअक्खिहि
नमुखे न ननासाय न ओट्ठे हि भभूहिवा
न गीवाय न अंसेहि न उदरे न नपिट्ठिया

न सोणियानउरसा न सम्वाधे नमेथुने
न हत्थोहि न पादे हि नाङ्गुली हि नखे हि वा
न जंघाहि न ऊरूही न वणे न सरे न वा
लिङ्गं जाति मयं तेव यथा अञ्ञासु जातिसु

हम सानुपूर्व यथातथ्य कहते हैं कि प्राणियों में जातिभेद यह और है वह और है इस से होता है। तृणवृक्षादिमें अन्य अन्य जातियों के लिङ्ग हैं। कीट पतङ्ग पिपीलिकादि में, चुतुष्पदों में (चाहे छोटे हों वा बड़े) पेट के बल चलने वालों में सांप और लंबे पीठ वाले जानवरों में, मछलियों तथा अन्य जलचर प्राणियों में, पक्षियों में और उड़ने वाले जन्तुओं में जाति के लिङ्ग स्पष्ट हैं। पर जैसे इन ऊर्ध्व कथित जातियों में जाति के लिङ्ग हैं, मनुष्यों में कोई जाति लिङ्ग नहीं है। न तो इन के वाल में भेद है न शिर बनावट में भेद है, न कान में, न आंख में, न मुख में, न नाक में, न ओष्ठ में, न भौंह में, न गले में, न अंश में, न पेट में, न पीठ में, न रक्त में, न उरः में, न सम्वाद में और न मैथुन में, न गांठ में, न पैर में, न अंगुलियों में, न नख में, न जंघा में, न उरू में, न वर्ण में, और न स्वर में कोई जातिमय लिङ्ग है जिस से यह निश्चय कर सकें कि अमुक पुरुष ब्राह्मण और अमुक पुरुष क्षात्रियादि है।

योहि कोचिमनुस्सेसु गोरक्ख उपजीवति।
एव वासेट्ठजानासि कस्स कोसोचब्राह्मणो॥

योहि........पुथुसिप्पेनजी....सिप्पिकोसोन ब्रा-०

योहि........वोहारंउपजी०....वाणिजो........०
योहि........परपेस्सेनजी....पेस्सिको........
योहि........अहिन्नंउपजी.... चोरोएसोन........
योहि........इस्सत्थं....योधाजीवीन........
याहि........पोरोहिच्चेनजी....याजकोसो........
योहि........गामंरट्ठञ्चभुञ्जति....राजाएसोन.... ....

जो पुरुष गोरक्षा और कृषि कर्म से जीविका करता है वा श्रेष्ठ कृषक है ब्राह्मण नहीं है। जो शिल्प से जीविका निर्वाह करता है वह शिल्पी है ब्राह्मण नहीं है। जो पुरुष व्योहार लेनदेन से आजीविका करता है वह वणिज है ब्राह्मण नहीं है। जो मनुष्य औरों के कहने से कहीं जाता है वह पेसिक है ब्राह्मण नहीं है। जो विना दिये किसी का पदार्थ अपहरण करके जीविका करता है वह चोर है ब्राह्मण नहीं है। जो पुरुष धनुष आदि अस्त्रों से जीविका करता है वह योद्धा है ब्राह्मण नहीं है। जो मनुष्य पौरोहित्य कर्म से अपनी जीविका करता है वह पुरोहित (याजक-यज्ञ कराने वाला) है ब्राह्मण नहीं है। जो गांव और राष्ट्र का कर लेता है और उस से अजीविका करता है वह राजा है ब्राह्मण नहीं है:—

न वाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजमत्ति सम्भवं
भोवादीनाम सोहोति सवेहो सकिञ्चनो
अकिञ्चनं अनानं तमहं व्रूमि ब्राह्मणं।

मैं योनिज औरमातृसम्भव (ब्राह्मण) को ब्राह्मण नहीं मानता वह भोवादी और साकिञ्चन (गोत्रधारी) है जो अकिञ्चन

अर्थात् धनैश्वर्य्यादि त्यागी और अयाची है उस को मैं ब्राह्मण मानता हूं । महात्मा बुधदेव ने ब्राह्मण के बहुत से लक्षण दिये हैं । कुछ दो चार आप लोगों को सुनाता हूं ।

सर्वसंयोजनछेत्वा योवे न यरिनस्साति ।
संगातिगं विसंयुत्त तमहं ब्रूमिब्राह्मणं ॥
वारिपोक्खर पत्तेव आरग्गेरिव सासपो ।
योनलिप्पतिकामेसु तमहं ब्रूमिब्राह्मणं ॥
निधायदण्डं भूतेसु तसेथावरेसुच ।
योनहन्ति नघातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
यस्सरागो चदोसोच मानो मक्खा चओशतितो ।
सासपोरिव आरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
आसा यस्य नविज्जन्ति अस्मिंलोके परम्हिच ।
निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
योधपुञ्ञंच पापंञ्च उभोसङ्गमुपच्चगा ।
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
हित्वा मानुसकं योगं दिव्यं योगं उपच्चगा ।
सब्बयोगविसं युत्तं तमहं ब्रमि ब्राह्मणं ॥
यस्सगतिं न जानन्ति देवागन्धव्वमानुसा ।
खीणासवं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
पुव्वे निवासम्यो वेदिसग्गपायञ्चपस्साति ।
अथो जातिखयं पत्तो तमहं ब्रमि ब्राह्मणं ॥

यस्सपूरेच पच्छाच मज्झेच नत्थिकिञ्चन ।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥

सब संयोजनाओं के त्यागने पर जो नाश को न प्राप्त हो जो संगातीत और परिग्रह शून्य हो मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं । कमल के पत्ते में जैसे जल नहीं ठहरता और आरे की नोक पर जैसे सरसों का दाना नहीं ठहरता वैसे ही जो कामनाओं से लिप्त न हो वह ब्राह्मण है। जो त्रास संस्थावर समस्त प्राणियों को भय न देकर अभय प्रदान करै और न हिंसा करे न करने की आज्ञा दे वह ब्राह्मण है । जैसे आरे की नोक पर सरसों नहीं ठहरहती वैसे जिस के राग द्वेष मान मत्सर झड गए हैं उस को मैं ब्राह्मण कहता हूं । जिस की इस लोक और परलोक दोनों की आशायें नष्ट होगई हों और आशय हीन विसंयुक्त हो उस को मैं ब्राह्मण कहता हूं । जिस ने पुण्य और पाप दोनों संगों को त्याग दिया है और शोक रहित विरज और विशुद्ध है मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं जिस ने मानुष और दिव्य दोनों योग को त्याग दिया है और जो समस्त योजनाओं से विसंयुक्त है मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं । जिस की गति को देवता गन्धर्व और मनुष्य नहीं जानते जो क्षीणाशय जीवन्मुक्त अर्हन्त है मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं । जो अपने पूर्व निवास (जन्मों) को जानता है और (सर्ग जन्म मरण) के नाश को देखता है और जन्म के क्षय को प्राप्त अर्थात् विमुक्त है मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं । जिस के पूर्व के कर्म पीछे के कर्म और बीच के कर्म (त्रिविधकर्म) नहीं है अर्थात् नाश

को प्राप्त होगये हैं जो अकिञ्चन (अर्थात् कर्मशून्य) और अ-नादान (कुछ कर्म शेष न रखने वाला) है उसे मैं ब्राह्मण कहताहूं। बुद्धदेव कहते हैं–

नजच्चाब्राह्मणे होति नजच्चाहोति अब्राह्मणो ।
कम्मणाब्राह्मणो होति कम्मणा होति अब्राह्मणो ॥
तपेन ब्रह्मचरियेन संयमेन दमेनच ।
एतेन ब्राह्मणो होति एतं ब्राह्मणमुत्तमं ॥
तीहिविज्जाभि सम्पन्नो सन्तोखीण पुनब्भवो ।
एवं वासेट्ठजानाहि ब्रह्मशक्को विजानत ॥

जाति से न कोई ब्राह्मण होता और न जाति से कोई अ-ब्राह्मण होता है कर्म ही से मनुष्य ब्राह्मण और कर्म ही से अ-ब्राह्मण होता है। तप ब्रह्मचर्य संयम और दम इन से मनुष्य ब्राह्मण हो जाता है और यही ब्राह्मण उत्तम है। त्रयी विद्या (ऋग्यजुः साम) से सम्पन्न शान्त और क्षीण पुनर्भव (विमुक्त) पुरुष को हे वसिष्ठ ! तुम ब्राह्मण जानो। शक्र ऐसा ही मानता था। इतिहास है कि एक वार भगवान् बुद्धदेव श्रावस्ति नगर में भिक्षा के लिये गये और अग्नीक भारद्वाज के यहां पहुंचे भारद्वाज अग्निहोत्र कर रहा था भगवान् को देख उस ने कहा "तत्रैव मुण्डक तत्रैव समणक तत्रैव वसलक"। "हे मुण्डक! हे श्रमणक ! हे वृषलक ! वहीं रहो।" भगवान् ने बड़ी शान्तिपूर्वक उसे पूछा हे भारद्वाज तुम जानते हो कि क्यों मनुष्य वृषल होता है। भारद्वाज उत्तर न देसका। तब आपने कहा यह उपदेश बहुत वि-

स्तृत है कुछ थोड़ा जिन से भगवान् ने उस समय के अत्याचारों का खंडन किया कहता हूं ।

एकजं वाद्विजं वापि योध पाणा निहिंसति ।
यस्सपाणे दयानत्थितं भञ्ञावसले इति ॥
गामे वायदिवरञ्ञे योपरे संममायितं ।
थेय्याअदिन्नं आदितितं भञ्ञावसलो इति ॥
मोहवेइणमादाय चुच्छमानो पलायति ।
नहितेइसामत्थीति तं जञ्ञावसलो इति ॥
योजाती नं सखानं वा दारेसुपति दिस्सति ।
सहसासम्पि ये नवा तंजञ्ञा वसलो इति ॥
योमातरं वापितरं वा जीणकं गतयोव्वनं ।
पहूसन्तो नभरतितं जञ्ञावसलो इति ॥
योमातरं वा पितरं वा भातरं भगिनीससु ।
हन्तिरोसे नवाचा यतंजञ्ञावसलो इति ॥
यो अत्थपुच्छितो सन्ता अनत्थमनुसा ।
परिच्छन्नेन मन्तेति तं जञ्ञा वसलो इति ॥
याकत्वा पापकं कम्मं भामं जञ्ञाति इच्छति ।
योपरिच्छन्न कम्मन्नो तं जञ्ञावसलो इति ॥
योवे परकुलेगत्वा भुत्वान सुचिभोजनं ।
आगतं नपारिपूजेति तं जञ्ञा वसलो इति ॥

चाहे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विज हो वा एक जन्मा शूद्र हो जो प्राणियों की हिंसा करता है जिस में दया नहीं है वह वृषल

है। गांव में रहे वा वन में रहे जो पराये धन को अपना करना चाहता है जो चोरी से विना दिये धन को आप हरण करता है वह वृषल है। जो ऋणलेकर मांगने पर भाग जाता है वा यह कहता है कि तुम्हारा ऋण हम पर नही है वह वृषल है। जो अपने जाति वाले वा सखा की स्त्री पर कुदृष्टि करता है यद्वा सहसा उस से गमन करता है वह वृषल है जो जीर्ण अविगत यौवन माता पिता का प्रभुत्व होने पर भी भरण पोषण नही करता वह वृषल है। जो माता पिता भाई बहिन सासु आदि को रोष युक्त वचन से कह देता है वह वृषल है। जो सत्य अर्थ पूछने पर किसी वाक्य का विरुद्ध अर्थ वतलाता है वा चुपकेसे मन्त्रणा करता है वह वृषल है जो पाप कर्म करके यह चाहता है कि उस के पाप कर्म को कोई न जाने और अपने दुष्ट कर्मों को छिपाने वाला धर्म ध्वजी है वह वृषल है। जो पराये घर जाकर पवित्र भोजन नहीं खाता और आये हुवे के प्रति पूजा नहीं करता वह वृषल है।

महात्मा बुद्धदेव ने जाति परिवर्त्तन पर प्राचीन काल का ऐतिहासिक उदाहरण दिया है। वह कहते हैं।

तदमुनापि जानाथ यथा मेदं निदस्सितं।
चण्डलपुत्तो सोपाको मातङ्गो इति विस्सुतो॥
सो यसं परमं पत्तो मातङ्गो यं सुदुल्लभं।
आगञ्छुतस्सुपट्ठानं खत्तियाखत्तियाब्राह्मणाबहु॥
सो देवयानमारुह्य विरजं सोमहापथं।
कामरागं विराजेत्वा ब्रह्मलोकोपगू अभू॥
नतं जाति निवारे विब्रह्मलोकूपपत्तिया।

अज्झाय काकुलेजाता ब्राह्मणामन्त्रवन्धुनो ॥
तेच पापेसुकम्मेसु अभिराहमुपादिस्सरे ।
दिट्ठेव धम्मेगारह्य सम्परायदुग्गतिं ॥
ननेजाति निवारेतिदुग्गच्चागरहाय वा ।

इस से भी मेरेवचन को (कर्मानुसार वर्णव्यवस्था) ठीक जानो । पूर्वकाल मे स्वपाक चाण्डाल पुत्र मातङ्ग नामक प्रख्यात ऋषि हुवे हैं । वह अ ने कर्म से अत्यन्त दुर्लभ उत्तम यश को प्राप्त हुवे और उन के उपस्थान के लिए वहुत से ब्राह्मण क्षत्रिय आदि आये । कामरोग को धोकर विरुद्ध देवयान महापथ पर हो कर ब्रह्मलोक को गये पर उन को जाति ब्रह्मलोक जाने से न रोक सकी । स्वाध्याय करने वाले कुल में उत्पन्न मन्त्रकार ऋषियों के वन्ध ब्राह्मणा (वसिष्टजी के पुत्र) पाप कर्म मे निरत देखे गये और इस लोक में गार्हित हुवे और परलोक में दुर्गाति को प्राप्त हुवे उन लोगों की जाति उन्हें दुर्गति और निन्दा से नहीं वचा सकी इस प्रकार महात्मा बुद्ध देवने जाति वाद का खण्डन कर गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था स्थापित की थी मनुजी ने भी कहा है।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवेति विद्याद्वैश्यं तथैवच ॥

महात्मा बुद्धदेव की प्राचीन ऋषियों में श्रद्धा

महात्मा बुद्धदेव की प्राचीन ऋषियों पर बड़ी श्रद्धा थी यह उन के निम्नलिखित वाक्यों से विदित हो सकती है जिन में उन्हों ने प्राचीन ऋषियों के आचार व्यवहार का वर्णन किया है :—

इसयो पुब्बकाआसुं सञ्ञतत्तातपस्सिनो ।
पञ्चकामगुणेहित्वा अत्तदत्थमकारिसुम् ॥
न पसूब्राह्मणानासुं नहि रञ्ञंनधानियम् ।
सञ्झाय धनधञ्ञा सुं ब्रह्मंनिधिमपया वयुं ॥
यं तेसंपकतं आसीद्वारभत्तं उपट्ठितं ।
सद्धापकतमेसानं दातवेतद्मञ्ञिसुं ॥
नानारत्तेहि वत्थेहि सयने हावसथेहि च ।
फीताजपदारट्ठा ते नमस्सिंस ब्राह्मणे ।
अचत्तारीसं वस्सानिब्रह्मचरियं चारिसुंते ॥
विज्जाचरणपरियेट्ठिं अचरुं ब्राह्मणा पुरे ।
नब्राह्मणा अञ्ञमगमुं नापिभरियं किणिंसुते ॥
सम्पियेनच संवासं संगन्त्वा समरोचयुं ।
अञ्ञत्रतम्हासमया उतुवेरमणिम्पति ॥
अन्तरामेथुनं धम्मंनास्सुगच्छन्ति ब्राह्मणा ।
ब्रह्मचरियंच सीलंच अज्जवं मद्दवं तपं ॥
सोरधं अविहिं सच्चखन्ति ञापिअवणयुं ।
येतिसं परमोअसीब्रह्मादध्वपरक्कमो ॥
सचापि मेथुनं धम्मं सुपिनन्तेन नागमा ।
तस्सन्त मनुसिक्खन्ता इधेके विञ्ञुजातिका ॥
ब्रह्मचरियं च सीलंच खन्तिञ्चापि अवणयुं ।

प्राचीन काल के ऋषिगण संयतात्मा और तपस्वी थे पांच इन्द्रियों के विषयों को त्याग कर आत्म तत्वका चिन्तन करते थे।

उन के पास न पशु थे न हिरण्य था न धन धान्य था उन का स्वाध्यायही धन धान्य था वे ब्रह्मनिधि की रक्षा करते थे। उन का स्वाभाविक भोजन वलि वैश्वदेव में निकाला हुआ भागथा जिसे गृहस्थ लोग निकाल कर घरके द्वारपर रख देते थे। उस समय के सर्व साधारण नाना रत्नों वस्त्रादिकों से पीत (आसुदा) थे और वे लोग ब्राह्मणों को नमस्कार करते थे। वे लोग अठतालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य करते थे और ब्रह्मचारी रह कर विद्योपार्जन और अग्नि होत्र को करते थे। ब्राह्मण लोग परदाराभिगामी नहीं होते थे यहां तक कि विषय सेवन के लिये वे अपनी स्त्री का भी गमन नहीं करते थे ऋतु काल से विरुद्ध और सन्तान न उत्पन्न करने की इच्छा से वे कभी अपनी स्त्री का गमन नहीं करते थे अर्थात् ऋतु काल में और सो भी पुत्रोत्पन्न करने की इच्छा से वे दार सेवन करते थे। वे अपने अन्तेवासियों को ब्रह्मचर्य शील, आर्जव, मार्दव (नम्रता) आत्मरति अहिंसा और क्षान्ति की शिक्षा देते थे। उनमें जो सर्वमान्य होता था, दृढ पराक्रम ब्रह्मा कहलाता था। वह स्वप्न में भी मैथुन नहीं करता था। उस के कुल में लोग ब्रह्मचर्य्य शील और क्षान्ति की शिक्षा पाते थे।

देखिए, किस प्रकार उन्होंने पूर्व महर्षियों पर श्रद्धा प्रकट की है। वे कभी नवीन मत प्रवर्त्तक कहलाने के इच्छुक नहीं थे, वरन अपने उपदेशों द्वारा प्राकृतिक सनातन धर्म्म का प्रतिपादन करते थे, जिसे वे समझते थे कि लोगों ने किसी अभिप्राय-वश दूषित करदिया है उन्होंने मानापमान का कुछ ध्यान

न रख प्राणियों का मैत्री धर्म्म स्थापन निःशङ्क भाव से किया, जैसा कि वेदों में कहा है:—

दृतेदृगथ्ंहमामित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्तां मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे ।

ब्राह्मणालोचनम् ।

(श्री पं० केशवदेव शास्त्रि लिखितम्)

ब्राह्मणग्रन्थेषु के के विषयाः सन्ति तेषु के च वेदानुकूलाः के प्रतिकूलाश्च ।

ब्राह्मणानां वेदत्वमस्तिनवा ।

माननीय सभापते ! सहृदयाः पारिषद्याश्च !

न केवलं भारतवर्षीयपण्डितानाम् परान्त्वितरेषाम् विदुषाम् मध्येऽप्यस्त्येवविवादास्पदविषयो यन्मन्त्रान् विहाय ब्राह्मणानाम् वेदत्वमस्ति नवेति, देशे चास्मिन् आर्य्यास्सर्वेवेदानेव स्वधर्म्मग्रन्थत्वेन सादरं स्वीकुर्वन्ति, निर्विवादमेककण्ठेनोद्घोषयन्तिच प्रतिप्रान्तं प्रतिनगरम् प्रतिग्रामम् प्रतिगृहञ्चावलोक्यालोचयासे यदस्त्येव गरीयसी श्रद्धा वेदेष्वार्य्यजनानाम् । कोऽयं वेदः वेद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः । उक्तञ्च बौधायनेन "वेदः मन्त्रब्राह्मणमित्याहुरिति" । श्रीमता सायणाचार्य्येणाप्युक्तम् " मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः । अनुश्लोकितञ्च षडगुरुशिष्येण सर्वानुक्रमणीवृत्तिभूमिकायाम् "मन्त्रब्राह्मणयोराहु र्वेदशब्दं महर्षयः । विनियोक्तव्यरूपो यः मन्त्र इति चक्षते । विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणम् कथयन्तिहि" । भगवता महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिना स्वरचितऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम् विवेचितमिदम् । "अथ कोऽयं वेदोनाम । मन्त्रभागसंहितेत्याह । किञ्च मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति कात्या-

यनोक्ते ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति । मैवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति । कुतः । पुराणेतिहाससंज्ञाकत्वाद्वेदव्याख्यानत्वादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कात्यायनभिन्नै ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति । पुनश्च । ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्तव्यमाहोस्विन्नेति । अत्रब्रूमः । नैतेषाम् वेदवत्प्रामाण्यम् कर्तुम् योग्यमस्ति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावात्तदनुकूलतयैवप्रमाणार्हत्वात्, मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानाम् व्याख्यानकरणाच्चेति ।

किम्मिदंब्राह्मणम् ।

कानितानिब्राह्मणानि, कति संख्यकानि, कथञ्चैतेभ्यो निरतिशयं गौरवमुपजायते वेदानामितीमान् विषयानधिकृत्य पण्डितानाम् पुरस्तात् विशदयितुं संक्षेपतः किञ्चिदिहोपवर्ण्यते । ऋग्वेदस्य द्वे ब्राह्मणेलभ्येते ऐतरेयकमेकमपरं कौषीकं नामेति । यजुर्वेदस्यापि द्वे एव ब्राह्मणे दृश्येते शतपथन्तैत्तिरीयमितिच । सामवेदस्यताण्ड्यमहाब्राह्मणमेकं । गोपथब्राह्मणन्तु एकमेवाथर्ववेदस्य । सामवेदस्यान्यान्यप्येव कानिचिद्ब्राह्मणानि अष्टादशानुब्राह्मणानि कथयन्ति केचन । सर्वाणीमानि ब्राह्मणानि यज्ञसम्पादनायैव विरचितानि । अस्ति तेषु यज्ञस्य विस्तृतो विषयः । ते यागाः पुनस्त्रिविधाः । इष्टि—हौत्र—सोमभेदात् । दर्शपूर्णमासादय इष्टयः । अग्न्याधेयाग्निहोत्रादयो हौत्राः । अग्निष्टोमादयः सोमाः । सर्वेष्विष्टिहोत्रसोमयागादिषु स्वर्गप्राप्तिरित्युद्देश्यमुपलभ्यते । कुतः । इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः । यज्ञस्य फलं सुखप्राप्तिरित्याह । कीदृशं य-

ज्ञस्य प्रयोजनम् । अत्रोच्यते । “ यज्ञोऽपितस्यै जनतायै कल्पते यत्रैवं विद्वान् होता भवति” (ऐ० १-१-३) जनानां समूहो जनता तत्सुखायैव यज्ञो भवति यस्मिन्यज्ञे विद्वान् संस्कृतद्रव्याणां होमं करोति । (ऐ० १-२-३) कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रः कर्मसम्पादनायैव यज्ञं कुर्वन्ति विद्वज्जनाः । ब्राह्मणेभ्यो निरतिशयमुपजायते वेदानाम् गौरवं न वेतीत्यग्रे प्रदर्शयामः ।

यज्ञविज्ञानम् ।

भगवता दयानन्दाचार्येणाभिहितम् ‘‘यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति स वृष्टिजलं शुद्धंकृत्वा वृष्ट्याधिक्यमपि करोति तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते । एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम्’’ । ब्राह्मणग्रन्थेषु यज्ञस्य फलमिदमाह ‘‘प्रजाकामो पशुकामो वृहस्पते सुप्रजा वीरवन्त इति प्रजया वै सुप्रजा वीरवान् वयम् स्याम् पतयो रयिणामिति । प्रजावान् पशुमान् रयिमान् वीरवान् भवति यत्रैवं विद्वानेतया परिदधाति ब्रह्मवर्चसी ब्रह्मयशसी भवति यत्रैवं विद्वानेतया परिदधातीति’’ यज्ञस्य स्वरूपन्त्वेवं निरूपितम् भगवता कात्यायनमुनिना । यज्ञं व्याख्यास्यामः ।

द्रव्यं देवता त्याग इति (श्रौ१—२—१—२) द्रव्यं पुरोडाशचरुसोमादिकम् । देवता अग्निविष्णुसोमेन्द्रादिकाः । देवतामुद्दिश्य पुरोडाशादिद्रव्यस्य य स्त्यागः प्रक्षेपणम् स यज्ञः । ब्राह्मणप्रणेतारः खलु सर्वमिदंयज्ञं मत्वा बहूनि द्रव्याणि विविधा देवताश्चाकल्पयन् ।”

देवता ।

अत्र देवताविषय उपजायते महान् विवादः । व्याख्यातं भगवता यास्कभास्करेण यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः समन्त्रोभवति (निरु० ७-१-१) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा । तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्योद्युस्थानः (निरु० ७-२-१) तस्मान्महाभाग्यादेव देवबहुत्वं स्वीकार्य्यमस्ति । तत्रापि प्रधानतस्त्रयस्त्रिंशदेव देवताः सर्वसंहितासु (अत्र ब्राह्मणेष्विति वाच्यम्) परिगणय्य दर्शिता स्तद्यथा । "त्रयस्त्रिंशद्वै देवा अष्टौ वसव एकादशरुद्राः द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च (ऐ०-३-२-११) शतपथादिष्वपि द्रष्टव्यास्तत्र इन्द्रश्च प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशदेवदेवाः । विषयस्यास्य दुर्बोधत्वात् कल्पितमिदम् देवताप्रपंचनम् ब्राह्मणेषु ।

ब्राह्मणानाम् विषयाः ।

कर्म्मसम्पत्तिर्मन्त्रः । स हि कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रः क्वास्ति ब्राह्मणेषु संहितासु वा विषये चास्मिन् भगवता दयानन्दाचार्येण विनिश्चितमिदं । वेदेषु सर्वा विद्याः सन्ति मूलोद्देशत स्तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिक्यश्च । परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः, अल्पशः आध्यात्मिक्या इत्येवं निरुक्ते भगवता यास्कभास्करेण वेदवेदाङ्गानामुत्पत्तावभिहितम् ॥ "साक्षात्कृतधर्म्माणः ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु र्वेदं वेदा-

ज्ञानिच" तदेवं वेदस्य दुर्बोधत्वपरिहाराय विरचितानि ब्राह्मणानि तेषु व्याख्याताश्च मन्त्रा यज्ञविषयेण याज्ञिकैः। प्रदर्शिता च तेषु तत्कालीनसभ्यता। प्रणीतानि च ब्राह्मणानि तादृश्यां भाषायां यां व्यवहरन्तेस्म तदानीन्तना जनाः" कृतमापस्तम्बेन ब्राह्मणस्य लक्षणमिदम्। ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः ब्राह्मणस्य शेषवाक्यानि एवार्थवादा उच्यन्ते। तर्हि द्विविधं ब्राह्मणं, विधिरर्थवादश्च, भगवता दयानन्दाचार्येणाप्युक्तं यत्त्रिविधानि खलु ब्राह्मणवाक्यानि विध्यर्थवादानुवादवचनानि। ब्राह्मणेष्वितिहासवाक्यानि यथा स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि।"

गाथावाक्यानि यथा "हिरण्येन परिवृतान् कृष्णान् शुक्लदतो मृगान् मष्णारेभरतोददाच्छतं बद्ध्वानि सप्त च॥ (ऐ०-८-४-९)

यद्यपि सायणादिमते वेदानाम् सर्वे मन्त्रा यज्ञसम्पादनायैव दृष्टाः परन्तु यास्कदयानन्दप्रभृत्याचार्याणाम् मते नैव सर्वेषाम्मन्त्राणां यज्ञसम्पादनायैवोत्पत्तिरजायत सन्ति बहवो मन्त्रा आध्यात्मिकार्था आधिदैविकार्थाश्च। समुपलभ्यन्ते केचनाध्यात्मिकार्था मन्त्रा ब्राह्मणानामुपनिषत्सु। यतो ब्राह्मणेषु नोपलभ्यन्ते आधिदैविकार्था मन्त्राः तस्माद्वेदार्थस्यातिदुरूहत्वमपि वर्णितम् यास्काचार्य्येण। तद्यथा। "अप्येकः पश्यन्नपि नपश्यति"। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। यथैतदविस्पष्टार्था भवन्तीति नैवायं स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति"। याज्ञिका आधिदैविकार्थानाध्यात्मिकार्थान् मन्त्रांश्चापि इष्टिसोमहोत्रयागेषु तत्र तत्रान्तर्भावयन्ति। अनेन प्रकारेण ब्राह्मणग्रन्थेषु पश्यामो यज्ञस्यातिविस्तृतं वृत्तान्तं।

महाभाष्ये भगवता पतञ्जलिमुनिनोक्तम् "तद्यथा दीर्घसत्राणि वार्षिकाणि वार्षसहस्रकानि च नाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति । केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म्म इति कृत्वा याज्ञिकाश्शास्त्रेणानुविदधते। भगवतो महर्षिदयानन्दाचार्य्यस्य ग्रन्थेष्वपि नास्ति कुत्रचिदश्वमेधगोमेधपुरुषमेधादीनाम् यागानां विधानं । ब्राह्मणानां विध्यनुकूलत्वेन यज्ञसम्पादनाय जना व्यापारयितुं शक्नुवन्ति नवेति सुधीभिस्स्वयमेवोहनीयम्। विध्यर्थवाक्यानि विहाय वयमधुना अर्थवादानुवादवाक्यानि संक्षेपतस्तावदालोचयामः ।

ब्राह्मणग्रन्थेष्वनवद्य वाक्यानि ।

वेदेभ्य अतितरामर्वागेव कालो ब्राह्मणानाम् । तेषान्निरुक्तिषूपलभ्यन्ते बहवो विज्ञानमूलकविषयाः । यथा । गोपथब्राह्मणे "स वा एष न कदाचनास्तमयति नोदयति तद्यदेनं पश्चादस्तमयति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तं गत्वा अथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात्कृणुते रात्री परस्तात्" । अनेन व्याख्यानेन पृथिव्या भ्रमणं सूर्यस्याचलत्वञ्चावगम्यते । शिष्टाचारो यथा । "प्राति वै श्रेयांसमायान्तमुत्तिष्ठन्ति, श्रेयांसम्प्रति" प्रशस्तमाचार्यपित्रादिकमायन्तं स्वाभिमुख्येन समागच्छन्तं प्रतिशिष्यपुत्रादय उत्तिष्ठन्त्येव । "अनु वै श्रेयांसम्पर्य्यावर्तन्ते आचार्यादिकमनुगम्य शिष्यादयः परितः संचरन्ति (ऐ०–२–३–२) पुरुषस्य व्याख्याने यथा ॥ यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयान्न ज्यायोऽस्ति किञ्चिद् वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकं तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् (श्वेताश्व०) । निरुक्ते यथाहि । पुरुषः कस्मात् पुरिषादः पुरिशयः

पूरयते वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य स पुरुषः । उपनिषत्सूपलभ्यन्ते बहूनि प्रशस्तवचनानि । यच्चकानिचिद्वचनानि ब्राह्मणेषूपदिष्टानि तानि सर्वाणि वेदानुकूलानि निरुक्तिपरिनिष्ठितत्वात् । वैपरीत्येन आसंश्च बहवो विषया ब्राह्मणेषु ये वेदप्रतिकूलास्सन्ति तत्कालपरिज्ञानाद्यज्ञपरकव्याख्यानान्मनुष्यबुद्धिरचनाच्चेति । तेषु कतिपयान् विषयान् क्रमशो विद्वज्जनानामावलोकनाय प्रदर्शयामः ।

ब्राह्मणग्रन्थेष्ववद्यवाक्यानि ।

विद्यन्ते ब्राह्मणग्रन्थेषु केचिदवज्ञानमूलका विज्ञानविषया स्तद्यथा अत्र चन्द्रमसि यः कलङ्कविशेषो दृश्यते स खलु देवयजनस्य कर्मभूमेर्मृत्युलोकस्य छायापातसंभूत इव चाम्नातमैतरेयेण "एतद्वा इयमसुष्यां देवयजनमदधात्यदेतच्चन्द्रमसि कृष्णम्" (ऐ० ४-४-९) विदितमेवैतद्खलु विद्वद्भिर्यच्चन्द्रमासि यः कलङ्कविशेषो दृश्यते पर्वतोऽयं नतु देवानां यज्ञभूमिः । चन्द्रमस्यपि दृश्यन्ते नद्यो वृक्षाः पर्वताश्च ॥

(ख) कथमिव यज्ञायज्ञीयङ्गयमित्याहुर्यथाऽनड्वान् प्रस्तावयमाण इत्थमिवचेत्थमिवचेति (ताण्ड्यमहाब्राह्मणे ८-७-९) गानप्रकरणविषयमधिकृत्य प्रश्नं कुर्वन्ति ब्रह्मवादिन स्तत्रेदमुतरमभिज्ञा आहुः कथं यथा अनड्वान् प्रस्तावयमाणो मूत्रधारां सततं वक्रां भूमौ पातयमान इत्थमिव । निन्दितवाक्येन ह्युपमीयतेऽत्र ।

(ग) चक्षु वै सत्यं सत्येनैवैतदाभिघारयाति अन्धो भवति यच्चक्षुषा आज्यमवेक्षते । निमील्यावेक्षते (तैतिरीयके) (घ) प्रजापतिः विचारितवान् किङ्किं नाकरवमिति स चन्द्रमस आहराति

प्रालपत् तच्चन्द्रमसश्चन्द्रमस्त्वं यः पूर्वं वेद (तै० २-२-१०-३) (ङ) स्वरविज्ञाने यथा प्रवो देवायाग्नय इत्यनुष्टुभः प्रथमे पदे विहरति विहरणम् पृथक्करणम् द्वयोः पादयो मध्ये विहारं विच्छेदं कृत्वा पठेत् तस्मात्स्त्र्युरु विहरति समस्यतीत्युत्तरेपदे तस्मात्पुमानुरु समस्यति संयोजयति तस्मिन्मिथुनं मिथुनेन तदुक्थमुखं करोति (ऐ० २-५-३) अश्लीलवाक्येनात्रोपमीयते (च) गर्भविज्ञाने यथा न्यूने वै रेतः सिच्यते दशमध्यन्दिनेऽन्वाह । न्यूने वै रेतः सिक्तं मध्यं स्त्रियै प्राप्य स्थविष्ठं भवति विषये चास्मिंश्चरकसंहितायाः शरीरस्थाने वर्णितामिदम् "यथा शुक्रशोणितजीवसंयोगे कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति " द्वयोर्मध्ये कीदृशमन्तरम् । पुनश्च " यजमानं ह वा एतेन सर्वेण यज्ञक्रतुनं संस्कुर्वन्ति स यथा गर्भो योन्यभ्यन्तरेव संभवंशेते न वै सकृदेवाग्रे सर्वः सम्भवति एकैकं वाङ्गं सम्भवतः सम्भवति, तस्मादाह चक्षुः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवति (ऐ० ६—५—५) मिथ्येयं वार्ता प्रतीयते चरकस्य शरीरस्थाने विषयोऽयं प्रश्नोत्तररूपेण विद्यते । तद्यथा किन्तु खलु भगवन् गर्भस्याङ्गं पूर्वमभिनिवर्तते कुक्षौ । सर्वाङ्गनिर्वृत्तिर्युगपदितिधन्वन्तरिः सर्वभावा ह्यन्योन्यमप्रतिबद्धास्तस्मादयमभूतदर्शनं साधु । विदूरं गच्छति सत्यात्सिद्धान्तो ब्राह्मणस्य यच्च चरके व्याख्यातं तदपि न समीचीनमिति सुस्पष्टम् । किन्तु चरकस्य मतं सत्यपथान्नातिदूरमास्ते गर्भविज्ञानं साविस्तृतं विविच्य सुविनिश्चितमिदं पाश्चात्यै वैज्ञानिकै गर्भस्यवृद्धेर्नियमा स्तथा हि खादेकस्मादारभ्य क्रमशो द्विचतुराष्टगुण्येन उपचीयन्ते खानि बहूनि सर्वाण्यङ्गानि युगपदेव प्रादुर्भन्तीति सिद्धा-

न्तपक्षः चूताङ्कुरवच्च (From Unicellular to multicellular) (छ)यच्च तैतिरियिके उक्तं कानिचिदङ्गानि पञ्चेत्याह द्वौ हस्तौ द्वौ पादावित्यङ्गचतुष्टयम् आत्मा पञ्चम आत्मशब्दोऽत्र मध्यदेहवाची एतदपि न समीचीनं (तै० ५-६-९-२) अनया रीत्यापि षड् भवन्ति (ज) ब्राह्मणेन भेषजं न कार्य्यं अपूतो ह्येषो यो भिषक् (तै६-३-९-२) भिषजामेव इदानीन्तनानाम् व्यवसायानाम् मध्ये प्रयुक्ततमो व्यवसायः। कालेचास्मिन् दरीदृश्यते बह्वीनाम् विद्यानाम् चिकित्साशास्त्रमेवोन्नतेर्मूलम् चरकस्य शरीरस्थाने वर्णितमेतत् "स चाध्येतव्यो ब्राह्मणराजन्यवैश्यैः। तत्रानुग्रहायप्रजानाम् ब्राह्मणैः, आत्मरक्षार्थञ्च राजन्यैः, वृत्यर्थञ्च वैश्यैः। समान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैं मन्वादिस्मृतिष्वपि भिषजाम् ब्राह्मणानाम् पङ्क्तावुपवेशनं निषिद्धमिति पश्यामः। दिग्दर्शनमात्रेण प्रदर्शितानि कतिपयानि वाक्यानि। अनुमीयते अनेन प्रकारेण उपलप्स्यन्ते बहूनि वाक्यानि वेदविरुद्धात्मकानि नैव ब्राह्मणानाम् शिक्षा वेदशिक्षामनुसरतीति ॥

स्त्रीणामनादरः।

सभ्यदेशानाम् जातीनाम् वा सभ्यताया निकषः समुपलभ्यते स्त्रीणामाचारव्यवहारेषु। नारीभिरेव सभ्यतामसभ्यतां वा प्रतिपद्यन्ते देशाः। यतस्तासामाचारव्यवहारादीनाम् प्रभावादेव समुपजायन्ते धार्मिका अधार्मिका वा पूरुषाः। स्त्रीषु च कुसुमसुकुमारमतिषु सुलभतया सर्वेऽपि दोषाः शंक्यन्ते जनैः। युक्तमुक्तं केनचित्कविना "यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः"। अवशा नन्वबला धूर्तांचरितानि दुष्कृतान्यात्मन्येवारोपितानि बिभ्रति तन्न निरपराधास्ताः कदापि दू-

षणीयाभवन्ति" सात्त्विकस्वभावाश्च ताः प्रसन्नसलिला स्त्रवन्त्य इव निखिलमप्यात्मनि प्रतिबिम्बितं मालिन्यं प्रकाशयन्ति । ब्राह्मणानाङ्कालेऽपि नारीणामवस्था नासीत्स्पृहणीया स्मरणीया वा । आत्रेयाङ्गराजदानगाथाश्लोकेषु दासीनाम् विक्रयश्च प्रतिपादितः । यथा । "दासीसहस्त्राणि ददामिते ।" अत्र हस्त्यश्वादीनामिव दासीनाम् विक्रयप्रथा प्रथिताभूदिति प्रतीयते । अद्ययावत् कदा कदेयमुपलभ्यते न केवलं दासीनाम् दानप्रथा परं नृपतीनाम् स्वभार्याया अपि दानप्रणालिका । अतीतकतिपयवर्षेषु कश्चिन्मद्रासप्रान्तीयो (ग्रेजूएट) महोदय अयोध्याक्षेत्रे ब्राह्मणेभ्यः स्वभार्यां प्रायच्छत् । ब्राह्मणानाम् कालाज्ज्ञायते प्रारभतेयंरीतिरिति । भगवता यास्काचार्येण व्याख्यातमिदम् "स्त्रीणामूदानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः पुंसोऽप्येके शुनःशेपदर्शनात्" यद्यपि वयम् शुनःशेपसूक्तानि आलंकारिकाणीति मन्यामहे तथापि स्वीकुर्मो यत्स्त्रीपुंसयोर्विक्रयप्रणालिका तदा वर्ततेस्म । तद्यथा । "तस्य ह शतं दत्वा स तमादाय सोऽरण्याद्ग्राममेयाय" शतं शतमुद्रात्मिकमिति । स्त्रीणाम् कृते निन्दापरकवाक्यानि यथा—

तं देवा अब्रुवन्नियं वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नामा । अस्यामेवेच्छामहे तथेति तस्यामैच्छन्त । सैनानब्रवीत् । प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मि । तस्मात्स्त्रियः पत्याविच्छन्ते । तस्मात्स्व्यनुरात्रं पत्याविच्छते" (ऐ० ३—२—११) अवलोकनीयमेतत् । स्त्रीणाम् वस्त्रावगुण्ठनमर्यादाऽप्युपलभ्यते ब्राह्मणग्रन्थेषु तथाहि । "प्रासहे ! कस्त्वा पश्यतीति तदथैवादः स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना नि-

लीयमानेत्येवमेव" (ऐ० ३. २.११.) निलीयमाना वस्त्रावगुण्ट-नहस्तपाद्याद्यङ्गसंकोचेन तिरोहितवसना भवति तादृशमेव । तासाम-पमानो विवाहेऽपिदृश्यते यथा तिसृभि र्हि साम सम्मतं तस्मादे-कस्य बह्वयो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवो सह पतयः (ऐ० ३–२-१२) यदि ह वा अपि बह्वय इव जाया पतिर्वाव तासांमि-थुनम् (ऐ० ३--५--३) ।

यच्च वेदेषु सम्राज्ञीति सम्बोध्य स्त्रीणाम् महानादरो विहत इत्यवगम्यते तत्स्थाने ब्राह्मणग्रन्थेषु ता अविश्वासपात्राणि मत्वा रज्जुभिर्बध्यन्ते पलायनशंकया । शतपथब्राह्मण उपादिष्टमिदम् । अथ पत्नीं सन्नह्यति । जघनोर्ध्वो वा एष यज्ञस्य पत्नी प्राङ्ये यज्ञस्ताय-मानो यादिति । केन सन्नह्यति, योक्त्रेण सन्नह्यति । योक्त्रेण हि योग्यं युंजन्ति अस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेः । अथमे-ध्यैनैवोत्ममाधिर्नाज्यमवेक्षते । तस्मात्पत्नीं सन्नह्यति । स वा अभि-वासः सन्नह्यति । एषा वरुण्यारज्जुर्न हिनस्ति तस्मादभिवासः सन्न-ह्यति । स वै न ग्रन्थिं कुर्यात् । अथाज्यमवेक्षते । योषा वै पत्नी रेतः आज्यम् । मिथुनेनैवैतत् । प्रजननं क्रियते तस्मादाज्यमवेक्षते । (श० २. ४. ३. १.) पत्न्यन्वास्ते प्रजानाम् प्रजननाय यत्ति-ष्ठन्ती सन्नह्यते आसीना सन्नह्येत आसीनाह्येषा वीर्य्यं करोति । (तै० ३.३.३.१).

रजस्वलानाम् नारीणाम् कृते ये केचन नियमाः सन्त्यार्य्येषु तेषां प्रादुर्भावा अपि ब्राह्मणानाम् कालात् । तथा हि । अत्र त्य-दिति ततोऽत्रिः सम्बभूव । तस्मादप्यात्रेय्यायोषिता । एनस्वी हि

योषायै एतस्यै वाचः । यतो गर्भाशयात्सृतो गर्भः अत्रिः सम्पन्नः तस्मात्सृतगर्भा रजस्वला स्त्री नाम्ना आत्रेयी इत्याख्यते । तया योषिता सह सम्भाषणादिकं कुर्वन् पुरुष एनस्वी भवति (शत० २-४) तैतिरीयके ऽप्याम्नातं "तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेत् न सहासीत (तै० २. ९. १. ९.) विचारणीयेयं व्यवस्था । शतपथब्राह्मणादेवानुसृतोऽयं भावः स्मृतिग्रन्थेषु । यथाहि । मनुस्मृतिभाष्ये "आत्रेयी च रजस्वला ऋतुस्नातोच्यते" अन्यच्च । रजस्वलामृतुस्नातामात्रेयीमिति वशिष्ठस्मरणात् ।

नृपतीनाम् कृते बह्वयो भार्या विहिताः । तासाम् नामान्यपि वर्णितानि । तद्यथा । "राज्ञां हि त्रिविधा स्त्रिय उत्तममध्यमाधमजातीया स्तासाम्मध्ये उत्तमजातेः क्षत्रियाया महिषीति नाम । मध्यमजातेर्वैश्याया वावातेति नाम । अधमजातेः शूद्रायाः परिवृत्तिः" (तै० ३. २२.) आश्वलायनसूत्रेऽपि (१०. ८) । राज्ञां द्वितीयाया भार्यायानाम वावातेति कथितम् । बा. रामायणस्य बालकाण्डेऽपि वर्णितमिदम् "महिष्या परिवृत्याथ वावातामपरां तथा" सुस्पष्टमेतत् यद्ब्राह्मणानाम् काले नासीदेकस्य पुरुषस्य बहुपत्नीव्रतविरोधः । प्रबन्धविस्तरभीरुभिरस्माभिर्नारीणां विषये कतिपयवाक्यान्येव समुद्धृतानि । यच्च वेदोपजीविना भगवता मनुनोक्तम् "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" एतादृशस्य भावस्य न कुत्राचिदपि ब्राह्मणग्रन्थेषूल्लेखोऽस्ति । अनुमीयते यत्सृष्टेर्बहुकालादनन्तरं निर्मितानि ब्राह्मणानि तेषां समये व्यस्मार्षु र्जना ऋषिकागौरवम् । ब्राह्मणान्येव प्रथमं कलुषमकुर्वन् नारीणां स्वभावनिर्मलं हृदयतलं ।

भस्मसाद्भूता भारतवर्षीयाणाम् स्त्रियः परमपूज्या वा भावाः प्रादुरभवंश्च तेषां स्थाने भूयांसो निन्दनीयविचाराः ।

वर्णव्यवस्था ।

कर्मसम्पत्तिर्मन्त्र इदम्वाक्यमधिकृत्य ब्राह्मणकालिकीं वर्णव्यवस्थामधुना आलोचयामः । वेदेषु नृणाम् प्रकारस्त्वेक एव भवति । तेषां वर्णानां मध्ये ऐकमत्यं परस्परमुपदिष्टम् । पूर्वैः सामाजिकैः गुणकर्मस्वभावानुसारतः कल्पिता वर्णव्यवस्था । संहितासु नास्ति कुत्रचिदपि वर्णानाम् मध्ये महदन्तरं वैमनस्यं वा नापि दृश्यते पक्षपातः यथाहि। यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्रायचार्य्याय च स्वाय चारण्याय । (यजुर्वेदे २६-२) हितप्रापणेऽपि साम्यमुपदेशस्य । यथा हि । प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु । प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्य्ये । रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि रुचं विश्वेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम् । प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याच । यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते । चातुर्वर्ण्येषु यदन्तरमस्ति सर्वन्तद्गुणकर्मानुसारतः किन्तु ब्राह्मणानां काले जन्मप्रधानत्वमवगम्यते । तद्यथा 'ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन् 'दास्या पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति तं बहिर्धन्वाद्वहन्नत्रैनं पिपासाहन्तु सरस्वत्या उदकं मा पादिति (ऐ० २-३-१) अवगम्यते । यदृषय इलषाख्यस्य पुरुषस्य पुत्रं कवषनामकं सोमयागान्निसारितवन्तः शूद्रकुलोत्पन्नत्वात् । तदा शूद्रैः सह प्रतिषिद्धंभाषितुमप्यवगम्यते । यथा । स

वै न सर्वेणवै संवदेत । देवान् वा ऐष उपावर्त्तते यो दीक्षते । स देवानामेको भवति । ब्राह्मणेन नैव राजन्येन वा वैश्येन वा (संवदेत) ते हि यज्ञियाः (तै० ३-१-१-१०) तेभ्यो वै देवाः अपैवाबीभित्सन्त मनुष्यगन्धात् (ऐ० ३-३-६) उक्तन्त्वन्यत्र । कोऽर्हति मनुष्यः सर्वं सत्यं वदितुं सत्यसंहिता वै देवा अनृतसंहिता मनुष्याः (ऐ० १-१-६) यच्च संहितायाम् ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत बाहू राजन्योऽभवत् मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत अलंकाररूपेण मन्त्रचास्मिन् तेषाम् वर्णानां पारस्परिकस्सम्बन्धः प्रदर्शितः। संहितावाक्यान्युद्धृत्य भगवता मनुनोपदिष्टं "शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रतामिति" नास्ति ब्राह्मणग्रन्थेषु क्वचिदप्यस्योल्लेखः । शूद्राणां हितप्रापणे नास्ति कोऽप्युपायः । केवलं पतितब्राह्मणाना कृते प्रायश्चितविधानमुपलभ्यते नतु शूद्राणाम् । यतः । ते हि मनुष्या येषाम् गन्धादपि पलायन्ते देवाः । हा ! कष्टं अस्याः सन्तापकारिण्य शिक्षाया दुष्प्रभावात् सङ्कीर्णहृदयाश्चाभवन् सर्वे भारतवर्षीया आर्य्याः। संत्यज्य सर्वानमृतपुत्रान् मनुष्यान् किल्विष्यकुर्वन्वेदशिक्षां ब्राह्मणप्रणेतारः वज्रादपि कठोराण्यासन् तेषाम् ऋषीणाम् हृदयाणि ये कवषं यज्ञान्निस्सारितवन्तः पिपासाकुलितञ्च तं जलमपि न प्रायच्छन् । सामाजिकानाम् कृते कीदृशमेतेषां पठनपाठने मनोहरं फलं । युक्तमुक्तं केनचित्कविना "भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः" ।

पतितब्राह्मणानां कृतेऽस्त्येवं प्रायश्चितविधानं । यथा त्रीणि ह वै यज्ञैः क्रियन्ते । जग्धं गीर्णं वान्तं स एतेषां त्रयाणां आशान्नेयात्।

तं यदेतेषां त्रयाणामेकं चिदकाममयमाभवत्तस्यास्ति वामदेवस्य स्तोत्रे प्रायश्चित्तिरिति (ऐ-३-२-९) अनेनैवोपदेशेन निषिद्धं शूद्राणाम् हिताचिन्तनमिति ब्राह्मणग्रन्थानां शूद्रान् प्रति व्यवहारोऽसुख-मुत्पादयति ॥

सृष्टेरुत्पत्तिप्रकरणम् ॥

ब्राह्मणग्रन्थेषु बरीबृत्यन्ते सर्वेषाम् स्थावरजङ्गमानामुत्पत्ते-र्मूलकारणानि तद्यथा तद्वै इदम् प्रजापते रेतः सिक्तमधावतत्सरोऽभवत्तेदेवा अब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दूषदिति । तदब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दूषादिति तन्मादुषदभवत्तन्मादुषस्य मादुषत्वं मादुषं है वै नामैतद्यन्मानुषमित्याचक्षे पुनरपि । यत्तृतीयमदीदिवत आदित्याअभवन येऽङ्गारा आसन् ते ऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशान्ता उद्दीप्यन्त तद्बृहस्पतिरभवत् । यानि परि-क्षाणान्यासंस्ते कृष्णाः पशवोऽभवन् या लोहिनी मृतिका ते रोहिता अथ यद्भस्मासीत्तत्परूष्यं व्यसर्पत् गौरगवयऋष्यो-ष्ट्रगर्दभ इतिचैतेऽरुणाः । (ऐ० ३-३-१०) अहो ! ब्राह्मणप्र-णेतॄणाम् विज्ञानमाहात्म्यं कीदृशं मनोहरमेतदुत्पत्तिमूलं । "पाञ्च-जन्यं वा एतदुक्थं यद्वैश्वदेवं । देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पा-णाम् च पितॄणाम् वा एतत्पञ्चजनानामुक्थं ।" अग्नीन्द्रादिदेवगण एको वर्गः । ब्राह्मणक्षत्रियादिमनुष्यगणो द्वितीयो वर्गः । गन्धर्वाणा-मप्सरसां वर्गस्तृतीयः । सर्पाणां वर्गः चतुर्थः । पितॄणां वर्गः पंचमः निषिद्धमेतत् भगवता यास्काचार्य्येण । यथाहि । गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो वर्णाः निषाद पञ्चम इत्यौपमन्यवः

(निर० ३-२-२) पुनश्च। स उच्चैःघोष उपाब्धिमान् क्षत्रस्य उपमैन्द्रो हि स गर्दभरथेनाश्विना उदजयतायश्विनाश्नुवातां यद्वाश्विना उदजयतामश्विनाश्नुवातां तस्मात्स सृतजतो दुग्धदोहः सर्वेषामेतार्हि वाहनानां नाशिष्टो रेतसस्त्वस्य वीर्य्यं नर्हितां । यस्मादुभौ रथे-नारुह्यातिवेगेन गत्वा व्याप्रवन्तौ तस्मात्सगर्दभो भारातिशयेन तीव्रधावनेन च लोके सृतजवो गतवेगो दुग्धदोहो गतक्षीरः स चाभ-वत् वर्तन्ते अन्यानि बहून्यपि वाक्यानि । दिग्दर्शनमात्रमतेत् ॥

भक्ष्याभक्ष्यविज्ञानम् ॥

अमृतं वै एतदस्मिंल्लोके यदापः (ऐ० ८-४-६) रेतो वै आपः (ऐ० १-१-३) आज्यं वै देवानां सुरभिः घृतं म-नुष्याणां आयुतं पितृणां, नवनीतं गर्भाणाम् । इन्द्रियं वा एतस्मिं-ल्लोके यद्दधि । (८-४-६) तेजो वै एतद्घृतं । यत् घृतं तत्स्त्रयै पयो ये तण्डुलास्ते पुंसः (ऐ० १-१-१) रसो वा एष औषधिवनस्पतिषु यन्मधु (ऐ० ४-४-६) मांसभक्षणस्यापि वि-धानं यथा । अथ ये अतोऽन्यथा सेडगा वा पापकृतो वा पशुं विमथनीरंस्तादृक्तत् (ऐ० ७-१-१) "नाग्नीषोमीयस्य पशो-रश्नीयात्" तस्याशितव्यञ्च लीप्सतव्यञ्च (सस्वादं भोक्तव्यमि-त्यर्थः) यच्च मुहमदीयानां मते "हरामहलाल" इत्याख्यसिद्धान्तो ऽस्ति तस्यमूलमपि लभ्यते ब्राह्मणग्रन्थेषु । यथा : एतेपुरुषकिम्पु-रुषगौरगवयोष्ट्रशरभा इति षड्अमेध्याः । अश्वगोऽव्यजपृथिवीभवा पंचमेध्याः पृथिवीभवत्वेन व्रीहिधान्यादीनां ग्रहणमिष्टं" (ऐ० २-१-९) स वा एष पशुरेवालभ्येत यत्पुरोडाशः (ऐ०२-१

–९) अजमांसस्य बहुप्रचलनमुपादिष्टम् । यथाहि । "एष एतेषां पशूनां प्रयुक्ततमो यदजः" । प्रभावोऽस्य शिक्षणस्य कीदृश उपजात इति सुधीभिः स्वयमेव विचारणीयम् । बध्यन्ते भारतवर्षीयाणां पुण्यतीर्थानाम् मन्दिरेषु प्रतिमासं प्रतिदिनं प्रतिरात्रमद्यापि असंख्यका निरपराधाअजाः। कस्मात्। "एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवस्तस्मादेतेषां नाश्नीयात् (ऐ० २–१–८) ऋतुसंग्रहे उक्तं "माध्यन्दिने तु सवने पुरोडाशः पशोर्भवेत्" । निरुक्तेऽपिस्वीकृतं । "आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयते" । यास्काचार्य्योपीमं भावमुत्थापयितुं तूष्णीमासांचक्रे यतः ब्राह्मणग्रन्थेषु पशुघातो बहुत्वेनोपदिष्ट स्तस्मात् नैषा शिक्षा वेदशिक्षामनुसरति । अतो न प्रेक्षावतां गौरवार्हा । अनेन प्रकारेण सर्वेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु भक्ष्याभक्ष्यादीनां विज्ञानमुपलभ्यते ।

नरकस्वर्गविज्ञानम् ।

पुराणविदा हि सविस्तरं कथयितुं शक्नुवन्तिस्वर्गनरकादीनां स्थानं विज्ञानञ्च स्वर्गकामो यजेदिति सुप्रसिद्धोक्तिः । इमाम्वाचमवलम्ब्यव्याख्यातः स्वर्गनरकविषयो ब्राह्मणग्रन्थप्रणेतृभिः । नव वै प्राणा नव स्वर्गलोकाः । प्राणाश्च तत्स्वर्गांश्चलोकानाप्नुवन्ति । प्राणेषु चैव तत्स्वर्गेषु च लोकेषु प्रतितिष्ठन्तो यन्ति (ऐ० ४ ३-२) । नवस्वर्गा नव भोगस्थानभेदेन नवविधा अष्टाभिर्लोकपालैः परिपालिता अष्टसंख्यकाः स्वर्गा लोका तेषाम्मध्ये कश्चिदूर्ध्वगामी स्वर्ग इति नवसंख्यकः स्वर्गः (तै० १-२-१-१) अधुनावलोकयामः कोऽयमूर्ध्वगामी स्वर्ग इति ॥ आम्नातमैत्तरे-

येण "आदित्याश्चैवाङ्गिरसश्चतेऽग्रे अग्निनाग्निमयजन्त ते स्वर्गलोकमायनम् स हि लोकान्तरो ऽस्माल्लोकादूर्द्ध्वतनं (ऐ० १-३-९) परो वाऽस्माल्लोकात्स्वर्गलोकः (ऐ० ६-४-४) तत्र पापी गन्तुं न शक्नोति (ऐ० २-१-३) सोऽपहतपाप्मोर्ध्वं स्वर्गलोकमेति (ऐ० ७-१-११) स्वर्गो वै लोको ब्रध्नस्यविष्टपं स्वर्गमेव तल्लोकं यजमानं गमयति (ऐ० ४-१-४) सूर्यस्य भागेऽमृतस्य लोके । (ऐ० ८-१-१) रोहति सप्तस्वर्गाल्लोकान् य एवं वेद (ऐ० ९-२-९) अनेन प्रकारेण प्रायस्सर्वत्र ब्राह्मणग्रन्थेषु बहुत्वेन स्वर्गविधानं । एतिगच्छतिरोहतिगमयतीतीमानि क्रियापदानि च । तेष्ववगम्यते ब्राह्मणप्रणेतारः कश्चिद्देशविशेषः स्वर्ग इति मन्यन्ते । व्याख्यातमिदं यास्काचार्य्येण । "नाकः किमितिसुखं तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिद्ध्यते । नवाअमुं लोकं जग्मुषे किंच नाकम् नासुखं । पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति । नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम् नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा" । स्वर्गं सुखमिति किन्नस्वीक्रियते । अत्रब्रूमः । तैतिरीयके आरण्यके उपलभ्यते नरकस्यविधानं । यथा हि । अनाभोगाः परं मृत्युं पापाः संयन्तिसर्वदा । आभोगास्त्वेव संयन्ति यत्र पुण्यकृतो जनाः पृच्छामि त्वा पापकृतः यत्र यातयते यमः । त्वन्नस्तद्ब्रह्मण ! प्रब्रूहि यदि वेत्थोऽसतोगृहान् (उत्तरे) रोदस्योरन्तर्देशेषु तत्र न्यसन्ते वासवैः । तेऽशरीराः प्रपद्यन्ते तथाऽपुण्यस्य कर्मणः अपाण्यपादकेशासः तत्र तेऽयोनिजा जनाः । मृत्वा पुनर्मृत्युमापद्यन्तेऽद्यमानाः स्वकर्मभिः आशातिकाः कृमय इव ततः पूयन्ते वासवैः अपेतं मृत्युं जयति

य एवं वेद (१-८) मीमांसासूत्रकारो महर्षि जैमिनिरपीदमाह । यस्य यागस्य फलं न श्रूयते तस्य स्वर्ग एव फलमिति ।

यन्नदुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषो ऽपनीतं च तन्सुखं स्वः पदास्पदम् ॥

तन्त्रवार्तिके कुमारिलभट्टेनाभिहितं "स्वर्गशब्देनापि नक्षत्रदेशो वा पौराणिकयाज्ञिकदर्शनेनोच्यते । "यथैष ज्योतिष्मंतं पुण्यलोकं जयति" । निश्चिनुमो यत्स्वर्गनरकयोर्विचारो ब्राह्मणग्रन्थेभ्य एव पुराणेषु प्रववृते । पुराणानां जैनमतग्रन्थानां च मध्ये यानि कानि नरकस्य भयावहानि वाक्यान्युपलभ्यन्ते तेषां मूलकारणमपि ब्राह्मणमेव । यच्च पुराणेषु यमराजस्य, चित्रगुप्तामात्यस्य लिप्तान्जनपवर्तकायानां गणानाञ्च वर्णनानि सर्वैषाकविकुसृष्टिकल्पना । सिद्धान्तितमिदं भगवता महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिना सत्यार्थप्रकाशस्यैकादशसमुल्लास "यमेन वायुना सत्यराजन्" । यमो वै वायुः । शरीरं विहाय सर्वे जीवा वायुना सह अन्तरिक्षे निवसन्ति । परमात्मावै धर्म्मराजः स हि न्यायं करोति सत्यकर्तृत्वात्पक्षपातरहितत्वाच्चेति । नास्ति कुत्रचिदपि स्वर्गनरकयोः स्थानम् ।

ब्राह्मणेभ्य उत्पत्तिरासीत्पुराणानाम् ।

विदितमेवैतद्वेदविद्भिः यद्ब्राह्मणानि सृष्टिकालादतितरामर्वागेव विरचितान्यासन् सर्वाणीमानि दृश्यकाव्यानि च विनिश्चितमिदं श्रीमता पूज्यपादेन शिवशङ्करेण । तेषां प्रणेतार वेदमन्त्रानुद्धृत्य बहुविधान् यज्ञानकल्पयन् । आधियज्ञार्थप्रिया हि याज्ञिका यद्यपि श्रूयन्ते आधिदैविकमन्त्राः प्रायस्त्रिभागाधिका वेदेषु । केवलमाधि-

यज्ञार्था आध्यात्मिकाश्च सन्ति स्वल्पास्तथापि ब्राह्मणेषु विद्यन्ते सर्वे मन्त्रा यज्ञपरका एव याः काश्चिदाख्यायिकास्तत्रालंकारपरकाः काल्पनिक्यश्च सन्ति सर्वास्ता नाटकवत्प्रत्यक्षयन्ति वेदविषयान्, आरोपयन्ति च तत्र तत्र प्ररोचनायै गाथाः । काल्पनिक्यो गाथाश्च बहुधा समुपलभ्यन्ते ब्राह्मणग्रन्थेषु । ये केचन मन्त्रा वेदविज्ञानग्रहणसमर्थमतीनाम् स्त्रीशूद्रद्विजबन्धुरूपाणां बालधियां कृते उपदिष्टा गाथासु सर्वे ते सविचारं प्रयुक्ता मन्त्रा अज्ञानतो वास्तविका गाथास्समभवन् । गाथाविषयानिमानधिकृत्य प्राणैषुर्विविधानि पुराणानि काव्यपुस्तकानि च पौराणिकाः पण्डितमहोदयाः तद्यथाः—

(१) च्यवनस्याख्यानमस्ति ।

"सुकन्ये किमिमं जीर्णिम् कृत्यारुमुपशेषे आवामनुप्राहीति उक्तवन्तौ अश्विनौ । स होवाच यस्मै मां पिता अदात् नैवाहं तं-जीवन्तं हास्यामीति । पतिं नु मे पुनर्युवानं कुरुतमथवां वक्ष्यामीति । तौ उक्तवन्तौ एतं ह्रदमभिवहर स येन वयसा कमिष्यते तेनोदैष्यतीति । तं ह्रदमभिवजहार । स येन वयसा चकमे तेनोदयाय । " (शत० ४–१–९) च्यवनविषयिणीयमाख्यायिका उपजाता । सन्तु ये केचिदाध्यात्मिकार्थाः किन्तु अनेनैव ब्राह्मणेन कल्पितेयम् गाथा । एतस्मिंश्चकाले सर्वेषु पौराणिक ग्रन्थेषूपलभ्यन्ते च्यवनस्य गाथाया उल्लेखा रामायणमहाभारतप्रभृतिग्रन्थेषु विद्यत एषा गाथा । चरकसंहितायामपि वर्णितम् च्यवनस्य वृत्तं । यथा हि ब्राह्मरसायणे "अस्यप्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत्पुनर्युवा ।" वेदेषु न दृश्यते कुत्राचिदपि सुकन्याशर्य्यातिह्रदसिद्ध सरोवरादीनां वर्णनं न तयो-

रश्विद्वयोः सुकन्यया सह वार्तालापो वा नाप्यस्त तत्र सुकन्यायाः पातिव्रत्यधर्मरक्षणायोद्वेगः ॥ कविकुसृष्टिकल्पना एषा ॥

(२) शुनः शेपस्याख्यानं यथा ।

यच्च ऋग्वेदस्य प्रथममण्डले शुनः शेपस्य सुप्रसिद्धसूक्तानि वर्णितानि तदुल्लेखोऽप्यैतरेये ब्राह्मणे गाथारूपेण दृश्यते । तां गाथां वास्तविकीं सम्प्रधार्य्य भगवता यास्काचार्य्येण "पुंस्यप्येके शुनः शेपदर्शनात्" इति व्याख्यातं । बा० रामायणस्य बालकाण्डे शुनः शेपस्य गाथा विद्यते । तत्रास्ति अम्बरीषस्य यज्ञवर्णनं । ऋचीकस्य च वार्ता । "पशोर्भावे पुत्रं देहि" इति सुस्पष्टम् । मध्यमं पुत्रं शुनः शेपं गृहीत्वा निष्क्रान्तोऽम्बरीषः शुनःशेपः पुष्करं तीर्थमासाद्य तत्रत्यं विश्वामित्रं प्रार्थितवान् । ततो विश्वामित्रस्य सम्यगुक्त्या शुनःशेपस्य दीर्घायुःप्राप्तिरभवत् । श्रीमद्भागवतपुराणस्य नवमे स्कन्धे सप्तमेऽध्याये समुपलभ्यते शुनः शेपस्य गाथा । अनयारीत्या प्रायस्सर्वत्र पुराणेषु इमाम् काल्पनिकीं गाथां वास्तवरूपेण वर्णयन्ति पुराणविदः ।

(३) यच्च उषासूर्ययोः उर्वशीपुरुरवसोरित्यर्थयो र्वेदेषु निर्दिष्टमस्ति तस्याप्युपजाता गाथा ब्राह्मणग्रन्थेषु "उर्वशी ह्यप्सराः पुरुरवसमैडं चकमे ।"(शत० ११-५-१-२)

उर्वश्याः निर्वचनमिदं "उर्वश्यप्सराः (निरु० ५-३-२) अप्सरा अप्सारिणी अपां वृष्टिजलानां सारयित्री च । अप्स इति च रूपनाम रूपवतीत्यर्थः । गाथाया अस्या अप्युल्लेखो ऽस्तिकेषुचित्पुराणेषु । महाकविना कालिदासेन कथामेतामाधिकृत्य "विक्रमोर्वशीय"

मिति नाटकमेकं निर्मितं । यच्च पुरुरवसः चन्द्रवंशस्योत्पत्तिं कथयन्ति ऐतिहासिकाः, उर्वश्याश्च इन्द्रलोकप्रधाननायिकात्वं वर्णितं सर्वोऽयं कविसमयप्रभावः (४) ऋग्वेदे दृश्यते "इदं विष्णुः विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं समूढमस्य पांसुरे" । अनेन प्रकारेण भगवता यास्काचार्य्येण व्याख्यातमिदं । इदं किंच तत् विचक्रमे विक्रमते विष्णुस् त्रेधा त्रिधा निदधे निधत्ते पदम् पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि" इति शाकपूणिः समारोहणे विष्णुपदं गयाशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढमस्य विष्णुः पांसुरे प्यायने । अन्तरिक्षपदं न दृश्यते (निरुक्ते १२-२-८). सोऽयमेकश्चविष्णु मन्त्रस्यास्य व्याख्यानमुपलभ्यते तैत्तिरीयके । तद्यथा स विष्णुस्त्रेधा आत्मानं विन्यस्यत पृथिव्यां तृतीयमन्तरिक्षे तृतीयम् दिवि तृतीयमिति (तै० २-४-१२-६). अनुमीयते अनया खलु गाथया बरीवृत्यते पुराणेषु वामनावतारकथा यथाहि एकेन हि पदा कृत्स्नां पृथिवीं स (विष्णुः) अध्यतिष्ठत् द्वितीयेनाव्ययं व्योम द्यां तृतीयेन राघव (वा० रामायणे). सामश्रमिणा श्रीमता सत्यव्रताचार्य्येण लिखितमेतत । अहो ! पौराणिककालमाहात्म्यम् अहो, यज्ञपर व्याख्यामात्राध्ययनाध्यापन माहात्म्यम् । यदत्र सर्वब्राह्मण निरुक्तादिकमालोचयतापि सर्व वेदभाष्यकारेण सायणाचार्य्येण व्याख्यातोऽयं मन्त्रः " विष्णुस्त्रिविक्रमावतारधारी " । अत्रब्रूमः । नात्र सायणाचार्य्य एव दोषभागिति । तस्य कालात्पूर्वमेव पुराणग्रन्थेषु विद्यन्तेस्म सर्व ब्राह्मणगाथाया वर्णनानि । पौराणिकाः पण्डिता ब्राह्मणान्तर्वर्तिनीर्गाथा अन्वर्था इत्यज्ञासिषुः कचित्स्थाने ब्राह्मणवत् वर्णिताः पौराणिकै र्यथाहि ।

(ऐत्तरेयब्राह्मणे) तद्वा इदं प्रजापते रेतः सिक्तमधावत्तत्सरोऽभवत्ते देवा अब्रुवन् मेदं प्रजापते रेतो दूषदिति । अनेनैव रूपेण श्रीमद्भागवतपुराणेऽप्यास्ति सृष्टेरुत्पत्ति वर्णनं । यथा । यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः । तानि रूप्यश्च हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन्महीपतेः । (८ स्कन्धे) प्रजापते रेतस आदित्यवृहस्पति मनुष्यपशवोऽजायन्त । महादेवस्य रेतसः क्षेत्राण्यभवन् । अनुमीयते यत्सर्वाणि पुराणानि ब्राह्मणानां गाथा अवलम्ब्य विरचितानि पण्डितैरिति मनोविनोदनाय बालस्त्रीशूद्राद्विजबन्धूनाम् ॥ युक्तमुक्तं सामश्रमिणा सत्यव्रताचार्य्येण " एवं हि यथा विष्णुमित्रकृतमित्रलाभसुहृद्भेदादिकथासु काककपोतोलूकादीनां मनुष्यभाषाश्रितवार्तादिवर्णनं बालानां नीतिधर्मचरित्रगठनायैव तथा पौराणिकदैवताकारादि कल्पनापि नूनं वेदविज्ञानग्रहणासमर्थमतीनां स्त्रीशूद्राद्विजबन्धुरूपाणां बालधियां धर्म्मोपदेशादि सहायैव " । निश्चेतव्यम् यदलंकाररूपेणमानि ब्राह्मणानि दृश्यकाव्यपुस्तकानि विरचितानि ब्राह्मणप्रणेतृभिः । विधिस्तु दूरे आस्ताम् परन्त्वर्थवादानुवादयोरप्यलंकाराणि विद्यन्ते । तेषु तेषु अलंकारेषु स्पष्टीकृता एव तदानीन्तनाः सभ्यताचारव्यवहाराः । तेषु बहुधा विषया वेद प्रतिकूला अतएव पुराणवत् नैव ब्राह्मणेभ्यो निरतिशयं गौरवमुपजायेत वेदानामिति ।

॥ ओ३म् ॥

वेदार्थ करने का प्रकार ।

(ब्र० इन्द्र लिखित)

(प्रस्तावना)

श्री० सभापति महोदय श्रीमन्नाचार्य्य तथा सभ्यगण !

वेदार्थ का करना कितना कठिन कार्य्य है यह आप को इसी बात से स्पष्टतया प्रतीत हो जायगा कि वेदों के अर्थ करने का जितने विद्वानों ने पिछली शताब्दी में यत्न किया है, उन सब के वेदार्थ एक दूसरे से भिन्न ही भिन्न हुवे हैं । पिछली शताब्दी ही को क्यों लें, उस से पहले समय भी जाने से यही दृश्य दिखाई देता है । ब्राह्मणों में कहीं २ 'इत्येके' कह कर दूसरे के मत का जिस प्राबल्य से खण्डन किया जाता है उस से प्रतीत होता है कि वेदों के अर्थों में उस समय भी बहुत मत भेद रहा करते थे । फिर निरुक्त पर दृष्टि डालिये । आप को प्रतीत होगा कि वहां भी एक निरुक्त और दूसरा ऐतिहासिक पक्ष विद्यमान हैं । वे एक दूसरे के किये हुवे वेदार्थों को स्वीकार नहीं करते । दोनों वेदार्थ करने के नये ही नये ढङ्ग अङ्गीकार करते हैं । ब्राह्मणों और निरुक्तों के सुदूरवर्ती काल को छोड़ कर जब हम

आगे बढ़ते हैं तब भी हमें यही दृश्य दिखाई देता है। सायणाचार्य्य का भाष्य न पूरा २ ब्राह्मणों से मिलता है, और न सर्वत्र यास्क के ही अनुकूल है। उस के अपने निराले ही अर्थ हैं। महीधर उव्वटादियों का तो कहना ही क्या है वेतो वेदार्थ करने का यत्न करने वालों की कोटि में ही नहीं आसक्ते। सायण से और आगे बढ़िये तो आप को पता लगेगा कि नये भाष्यकारों की लीला सब पुराने भाष्य कारों से विचित्र ही है। ऋषिदयानन्द ने योग बल से वेदोंके अर्थ किये। वे ऋषिथे, उन्हें वेदों के अर्थ करने का अधिकार था। उनकी देखा देखी बीसियों पण्डित वेद भाष्यकार बन गये और भारतवर्ष इन नये वेद-भाष्यकारों से इतना खचा खच भरगया कि इस से पूर्व कि इन भाष्यकारों में से कोई सज्जन अपना स्थान खाली करें किसी अन्य के लिये स्थान मिलना कठिन है। और फिर इन नये वेदभाष्यकारों के रास्ते एक दूसरे से इञ्च भरभी समानान्तर नहीं हैं। सब के रास्ते भिन्न २ और अतएव सब के वेदार्थ भी भिन्न २ हैं।

अब अपने देश की कथा छोड़ कर यूरोप में चलिये तो आप को दीखेगा कि वहां भी "मुण्डे २ मतिर्भिन्ना तुण्डे २ सरस्वती" वाली कहावत ही चरितार्थ हो रही है। मोक्षमूलर, रोथ और कीलहार्न

के मार्गों में परस्पर बड़ा भेद है। इन में से प्रथम को तो सापेक्षक मतका आचार्य्य तथा दूसरे को सापेक्षक भाषा का आचार्य्य कहसक्ते हैं। और अतएव दोनों के अभ्युपगत सिद्धान्तों में परस्पर बहुत भेद पाया जाता है।

इस प्रकार वेदार्थ करने के इतिहास पर एक साधारण दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि वेदार्थ करने में सदा से सब आचार्य्यों के अन्दर मतभेद चले आये हैं। हरएक नया आचार्य्य वेदों के नये ही नये अर्थ करता आया है। विषय दीर्घ होने के कारण मुझे आगे बहुत कहना है, अन्यथा दो एक साधारणमन्त्रों के भी निरुक्त सायणादि समस्त वेद विद्यार्थियों के किये हुवे अर्थ देखने से उनके अन्दर वर्तमान मतभेद बहुत अच्छी तरह से दिखाया जा सक्ता था।

इसी वेदार्थ–विषयक मतभेद को देखकर कई लोगों का विश्वास वेदों की वाचकता पर से उड़गया है। बहुत से लोग समझने लगे हैं कि वेदस्वयं कुछ भी नहीं कहता, जो कुछ भाष्यकार की बुद्धि में आवे सोही वेद कहने लगता है। वेद के शब्द "सर्वे सर्वार्थ वाचकाः" या 'कामधेनु' हैं। जिस मन्त्र का चाहें जो अर्थ हो सक्ता है। अथवा यूं कहिये कि वेद के शब्दों के और अतएव मन्त्रों के अनन्त अर्थ हो सक्ते हैं।

इसी भाव के प्रकट करने के लिये कई लोग यौगिक शब्द का प्रयोग कर देते हैं और कह देते हैं कि वेद के शब्द किसी क्रिया विशेष या पदार्थ विशेष को नहीं कहते, वे सामान्य क्रिया या सामान्य पदार्थ के वाचक हैं। इस प्रकार के मिथ्या भ्रम हैं जो वेदभाष्यकारों के इस भेद के कारण हुवे हैं।

अब कुछ ध्यान लगा कर सोचिये कि वेदभाष्यकारों के इस मत भेद का कारण क्या है! वेदों में ऐसी कौनसी विशेषता है जिस से कि उन के जो जैसे चाहे अर्थ कर सक्ता है? इन प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट है। वेदों के भिन्न २ व्याख्यानों के होने का कारण यह है कि वेदों के अर्थ करने का प्रकार अब तक कोई भी निश्चित नहीं है। अतएव इस के बीसों प्रकार बन गये हैं। जिस की जैसी इच्छा होती है वह उसी प्रकार से वेदों के अर्थ करने प्रारम्भ कर देता है। इस बात पर विशेष विचार कोई नहीं करता कि किस प्रकार के अवलम्बन करने से वेदों के ठीक २ अर्थ हो सक्ते हैं।

इस विचार के न करने से अनेक प्रकार वेदार्थ के अब तक अवलम्बित हो चुके हैं। किन्तु यदि ज़रा सी समीक्षा की दृष्टि से उन्हें देखा जावे तो पता लगेगा वे प्रकार अकेले २ लिये जाने पर ठीक २ वेदार्थ करने में सहायक नहीं हो सक्ते। और नहीं वे पृथक्

पृथक् वेदों के वास्तविक स्वरूप के साथ आनुकूल्य रखते हैं । इन विषयों का मैं विशेष विस्तार के साथ निबन्ध के अन्त में वर्णन करूंगा । यहां केवल यही कहना है कि ठीक २ वेदार्थ जानने के लिये सब से पूर्व जानने योग्य बात वेदार्थ करने का ठीक प्रकार है । जब तक प्रकार न जाना जायगा, तब तक वेदार्थ ठीक हो ही नहीं सकते । विना रास्ता जाने यदि हम किसी ओर को मुंह उठा कर चलदें, तो बड़ा परिश्रम करने पर भी यह आवश्यक नहीं कि हम अपने उद्देश्य तक पहुंच सकें । मार्ग जाने विना किसी तरफ़ चलना मूर्खता है, अतएव वेदार्थ करने की प्रथम सीढ़ी वेदार्थ करने के प्रकार की खोज करना है ।

वेदार्थ का प्रकार ।

किस प्रकार से वेदार्थ करने पर हम किसी अच्छे परिणाम पर पहुंच सक्ते हैं, यह जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि वेदों के शब्द किस प्रकार के हैं ? शब्दों की प्रकृति, शब्दों के अर्थों का बीज होती है । अतः प्रथम वैदिकशब्दों के स्वरूप पर ध्यान देना चाहिये । भाषाओं का पारायण हमें बताता है कि सब के सब शब्द तीन शीर्षकों के नीचे आ जाते हैं। वे तीन शीर्षक यौगिक, योगरूढि और रूढि हैं ।

यौगिक—वे शब्द कहाते हैं जो किसी क्रिया से सीधे उत्पन्न होते हैं। ऐसे शब्द प्रायः विशेषणीभूत होते हैं। जाना, खाना, पीना इत्यादि सब आर्य्य-भाषा की क्रियायें हैं। जाने वाला, खाने वाला, पीने वाला आदि सब शब्द यौगिक हैं, क्योंकि ये सीधे जाना खाना पीना आदि क्रियाओं से बने हैं तथा इन शब्दों के अन्दर उन क्रियाओं के अर्थ जैसे के तैसे बने रहते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग किसी एक निश्चित पदार्थ के लिये, या निश्चित दो चार पदार्थों के लिये हो ऐसा कोई नियम नहीं। जहां कहीं वह क्रिया वह विशेषता पाई जावेगी, जो उस शब्द की प्रकृति या मूल है, वहीं उस शब्द का प्रयोग हो जायगा। जैसे "गन्तृ" यह यौगिक शब्द है। जो गमन करे उसे गन्ता कहते हैं। वैदिक शब्दों में से यौगिक शब्दों के अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। कवि शब्द ज्ञात वक्ता का वाचक है। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' में वही ईश्वर का वाचक है। 'कवीनो मित्रा वरुणा तुविजाता उरुक्षया' में वही मित्राव-रुणों को कहता है। फिर "कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे" में वह अग्नि का विशेषण है। 'ता सुजिव्हा उपह्वये होतारादैव्या कवी' इस मन्त्र में हम उसी कवि शब्द को 'नक्तोषासा' का विशेषण पाते हैं। इसी प्रकार देव महान् आदि अनेक

वैदिक शब्द हैं जो यौगिक हैं, और यह उपर्युक्त रीति से वैदिक मन्त्रों से ही स्पष्ट सिद्ध हो सक्ता है। निघण्टु में ऐसे शब्दों को प्रायः "पद" नाम से पुकारा है ।

दूसरी प्रकार के शब्द योगरूढि हैं । योगरूढि शब्द वे कहाते हैं जो उत्पन्न तो किसी न किसी क्रिया से ही होते हैं, किन्तु अन्त में उन का प्रयोग क्रियानिमित्तक नहीं रहता, किन्तु व्यवहार निमित्तक हो जाता है । दृष्टान्त के लिये आप "गो" शब्द को ले-लीजिये । गो शब्द गमनार्थक "गम्लृ" धातु से बना है । जो चले या गमन करे उसे "गौ" शब्द से पुकार सकते हैं । किन्तु भाषा में इस का ऐसा प्रयोग नहीं होता। मनुष्य को गमन करने के कारण कभी भी गौ नहीं कहा जाता । ऐसे शब्द यौगिक होते हुए रूढि अर्थात् किसी एक अर्थ के विशेषतया वाचक हो जाते हैं ।

ऐसे शब्द दो प्रकार के होते हैं—एकार्थक और अनेकार्थक । एकार्थक वह शब्द है जो एक ही अर्थ में प्रायः प्रयुक्त होता है, जैसे लौकिक भाषा में वृक्ष शब्द । वैदिक भाषा में 'हिरण्य शब्द' को दृष्टान्त-तया ले सकते हैं । चर्षणी, तविषी, द्यविद्यवि इत्यादि अन्य बीसों दृष्टान्त इसी प्रकार के शब्दों के हैं । अ-

नेकार्थक योगरूढ़ि वे हैं जो अनेक अर्थों में रूढ़ हो जाते हैं। दृष्टान्ततया गौ, इन्द्र, अग्नि, वायु आदि अनेक शब्द हैं। गौ, वाणी, धेनु, चतुष्पाद मात्र, इन्द्रियों और पृथिवी में रूढ़ है। सम्भव है दो एक और भी अर्थ गो शब्द के हों किन्तु इस में सन्देह नहीं कि गो शब्द कुछ निश्चित अर्थों में ही प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार इन्द्र शब्द सम्पत्ति शाली तथा ऐश्वर्य्यवान् पुरुष, आकाश में कार्य्य करने वाली शक्ति आत्मा और परमात्मा में रूढ़ है, यद्यपि उस की उत्पत्ति ऐश्वर्य्यार्थक "इदि" धातु से है। अग्नि शब्द लौकिक वन्हि को, यज्ञ करने वाले व्यक्तियों को, भूमिशक्तियों को तथा ईश्वर को ही कहता है। वायु शब्द भी लौकिक वायु को, आकाशस्थ शक्तियों को, तथा ईश्वरीय बल को बताता है। अन्य मरुत आदि शब्द भी इसी प्रकार के शब्दों के दृष्टान्त हैं।

तृतीय प्रकार के शब्द रूढि कहाते हैं, वे अज्ञान मूलक होते हैं जंगली तथा अज्ञानी जातियों की भाषाओं में ऐसे शब्द प्रायः पाये जाते हैं। कारण इस का यह होता है कि वे लोग अपनी स्वल्प शब्दों वाली भाषा से बहुत से अर्थों को प्रकट नहीं कर सक्ते न ही क्रिया से प्रत्यय लगा कर वे शीघ्र ही उन के वाचक घड़ सक्ते हैं, तब किसी नई वस्तु को देखते ही

वे किसी बेढब शब्द से उसे पुकारने लगते हैं। वेद में ऐसे शब्द नहीं पाये जाते। ऐसा वेद में कोई शब्द नहीं है जिस के लिये कोई धातु रूपान्तर में वेद ही में न पाया जाता हो। वेदों के आलोचन से यह बहुत स्पष्टतया प्रतीत होता है। वेदों की इस विशेषता से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि पाश्चात्य विद्वानों की यह कल्पना कि वेद जङ्गलियों के बनाये हुवे हैं कुछ कीमत नहीं रखती। यदि वेद जङ्गलियों के बनाये हुवे होते तो उन में अन्य जङ्गली जातियों की भाषाओं की तरह शब्दों की न्यूनता और अतएव रूढि शब्दों का बाहुल्य पाया जाता।

इस प्रकार से प्रतीत होता है कि वेदों में दो प्रकार के ही शब्द पाये जाते हैं। एक यौगिक दूसरे योगरूढ़ि। यहां पर मैं यह कह देना चाहता हूं कि इस निबन्ध में यौगिक तथा योगरूढि शब्दों से वही अर्थ लेना चाहिये जो मैं पहले कह चुका हूं, यद्यपि मैं जानता हूं कि यह अर्थ साधारणतः प्रसिद्ध परिभाषा से कुछ विपरीत हैं। किन्तु मेरी समझ में इन के ऐसे अर्थ करने से ही वैदिक शब्दों का विभाग ठीक प्रकार से हो सक्ता है।

ये दोनों प्रकार के शब्द फिर दो विभागों में विभक्त हो जाते हैं—एक शब्दक तथा अनेक शब्दक ये

दो विभाग हैं जिन में सारे शब्द विभक्त किये जासकते हैं एकशब्दक यौगिक तथा अनेकशब्दक योगरूढि के दृष्टान्त ऊपर दिये जा चुके हैं। अब अनेकशब्दकयौगिक तथा अनेकशब्दकरूढियों के दृष्टान्त सुनिये। अनेकशब्दकयौगिक शब्द कविक्रतु है। 'अग्निहोता कविक्रतुः सोमाश्चमश्रवस्तमः' में वह अग्नि का विशेषण है किन्तु 'परिप्रिया दिवः कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः। सुबानो याति कविक्रतुः' में वही पवमान सोम का विशेषण है। अनेकशब्दकयोगरूढि हिरण्यगर्भ तथा हव्यवाहन हैं। हिरण्यगर्भ में हिरण्य तथागर्भ दो शब्द हैं। दोनों से मिल कर हिरण्यगर्भ शब्द बना है और वह केवल एक ईश्वर अर्थ में प्रयुक्त है अन्य किसी में नहीं। इसी प्रकार हव्यवाहन शब्द भी केवल वन्हि के लिये आया है।

यह देखने के अनन्तर कि शब्द किन२ विभागों में विभक्त किया जाता है, अब अपने वास्तविक विषय की ओर मुड़ना चाहिये। वास्तविक विषय यह है कि वेदार्थ करने का क्या प्रकार होना चाहिये ?

इस प्रश्न पर विचार करते हुवे हमें सब से प्रथम इस बात का ध्यान रखना चाहिये, कि वेदों के सम्पूर्ण तथा आर्षभाष्य इस समय प्राप्य नहीं हैं। प्राचीन वैदिक साहित्य में एक भी ऐसा ग्रन्थ विद्य-

मान नहीं है जो हमें ठीक २ वेदार्थ बता सके। दृष्टान्त के लिये आप ब्राह्मणग्रन्थों को ही लीजिये । ब्राह्मणग्रन्थों को ही वेदों का व्याख्यान कहा जाता है । किन्तु वास्तव में वह वेदों का अर्थ करने में कुछ भी सहायता नहीं देसक्ते । विस्तार से तो इस विषय को मैं वहां लूंगा, जहां कि वेदार्थ के याज्ञिक पक्ष का निरास करना होगा, किन्तु यहां अवश्य कहना चाहता हूं कि ब्राह्मण वेदों का यज्ञों में विनियोग बताते हैं तथा कहीं २ वेदों के आलङ्कारिक अर्थ भी कर देते हैं—किन्तु उन्हें पूर्णतया वेदों का भाष्य नहीं कहा जा सक्ता और न ही वे वेदार्थ करने में कोई बड़ी सहायता दे सक्ते हैं । सूत्र ग्रन्थों तथा उपनिषदों से तो ब्राह्मणों की अपेक्षा भी कम सहायता की आशा है ।

दूसरा विचार जो इस प्रश्न का उत्तर लेते हुवे सामने रखना चाहिये यह है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं । उन में क्या कहा होना चाहिये है ? यह अन्य ग्रन्थों के साहाय्य से जानना ठीक नहीं । क्योंकि ऐसा करने से यह पता लगेगा कि अमुक ग्रन्थकर्ता के मत में वेदों के क्या अर्थ हैं ? यह पता नहीं लगेगा कि वेदों के वास्तविक अर्थ क्या हैं ? प्राचीन आर्षग्रन्थों का साहाय्य वेदार्थ करने में कुछ भी नहीं मिलता ऐसा नहीं समझना चाहिये । किन्तु जिस प्रकार

से उन का साहाय्य स्वीकार किया जाता है वैसे नहीं मिलता इतना ही मेरा कहना है।

पहला नियम—इन दो बातों को ध्यान में रखते हुवे जब हम वेदार्थ का प्रकार जानना चाहते हैं तो जो वेदार्थ का १ म नियम हमारे सामने आता है यह है कि जहां तक हो सके वेदों के अर्थों को अन्य ग्रन्थों के साहाय्य के विना वेदों से ही जानने का यत्न करना चाहिये। किन्तु एक इसी नियम से वेदार्थ नहीं हो सक्ता। पहले कुछ ज्ञात हो जो उसी से अज्ञात की खोज लगा सक्ते हैं। यदि वेद में कोई भी अंश ज्ञात न हो तो वेदों से वेदों के अर्थ नहीं जाने जा सक्ते। अतः पहले यह जानना चाहिये कि क्या वेदों का कोई ऐसा भाग भी है जिसे हम विना स्वयं वेद के साहाय्य के जान सकें ?

वेदों में जो क्रियायें हैं, तथा क्रियाजन्य यौगिक शब्द हैं उन्हें हम ज्ञात मान सक्ते हैं। प्रत्येक भाषा में क्रियावाचक शब्द तथा क्रियाजन्य यौगिक शब्द अपरिवर्तनशील होते हैं उन के अर्थ समय के साथ परिवर्तित नहीं होते वे सर्वथा ही नहीं बदलते ऐसा नहीं कहा जा सक्ता, किन्तु वे इतने थोड़े परिवर्तित होते हैं कि उन्हें व्यवहार में अपरिवर्तनशील कह सक्ते हैं। दृष्टान्त के लिये आप किसी भाषा को

ले लीजिये। वेदों के गमत् गच्छाते गम्यति की जगह लोक में चाहे केवल गच्छति का प्रयोग रह जावे वैदिक जल वाचक पुरीष का अर्थ विष्ठा और आकाश वाचक धन्वन् शब्द का अर्थ चाहे मरुस्थल हो जावे किन्तु हन्, स्तु, कृ, गम् आदि धातुओं के मूल अर्थ आज तक नहीं बदले। इस अपरिवर्तन शीलता का एक कारण भी है। भाषापरिवर्तन प्रायः रूढिभेद के कारण, उच्चारण भेद के कारण तथा अन्य भाषा जनित प्रत्ययादि भेद के कारण होते हैं। क्रिया तथा क्रियाजन्य यौगिक शब्दों के रूपपरिवर्तन में ये सब कारण सहायक हों तो हो जावें उन के मूल रूप को तथा अर्थ को वे परिवर्तित नहीं कर सक्ते। क्रियाओं और यौगिक शब्दों के अर्थज्ञान में हमें ब्राह्मणों, दर्शनों, उपनिषदों से लेकर आज तक के साहित्य ग्रन्थ तथा निरुक्तादि समस्त व्याकरण सहायक हो सक्ते हैं।

अतः वेदार्थ करने का—

दूसरा नियम—हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि क्रियायें तथा यौगिक शब्द प्रायः समय के साथ अपने अर्थों को नहीं बदलते। अतः सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य की सहायता से वेदों में उन के अर्थ जान लेने चाहियें।

जब वेद के कुछ शब्द हमें ज्ञात हो गये तो ज्ञात से

अज्ञात तक जाने की एक सीढ़ी तो पार हो गई। अब अज्ञातार्थक शब्दों को लीजिये । यौगिक शब्दों के ज्ञात हो जाने से शेष योगरूढ़ि शब्द अज्ञातार्थक कोटि में प्रविष्ट रह जाते हैं । योगरूढि शब्द भी जैसा मैं ऊपर कह आया हूं दो प्रकार के होते हैं– ए ार्थक, तथा अनेकार्थक । इनके अर्थों को जानने का क्या उपाय होना चाहिये ?

उन्हें हम ज्ञातों की सहायता से जान सकते हैं। उन के जानने के लिये जिस प्रक्रिया का हम आश्रयण कर सकते हैं वह यह है कि पहले नवीन तथा प्राचीन देववाणी साहित्य में उस शब्द के जिस के हम अर्थ जानना चाहते हैं, जो २ अर्थ पाए जाते हैं, उन्हें सामने रखलें । क्योंकि किसी भी शब्द का काल के प्रभाव से भी मूलार्थ सर्वथा नहीं बदल सकता, वह कहीं न कहीं अवश्य स्थिर रहता है फिर आज तक नैरुक्तों या वैयाकरणों ने जो २ विग्रह उस शब्द के किये हैं उन्हें ढूंडलें । तदनन्तर वैदिक भाषा से उत्पन्न ग्रीक, लेटिन, पाहलवी, पाली आदि भाषाओं के अतत्समानरूप तथा समानाकार शब्दों के अर्थों का निरीक्षण करें । यह सब कुछ करने के अनन्तर हमें चाहिये कि हम उस मन्त्र पर दृष्टि डालें जिस में वह शब्द आया है । वहां जो ज्ञात शब्द हैं उन की सहायता से देखें कि उस शब्द के

सामने रक्खे हुए अनेक अर्थों में से कौन सा अर्थ वहां घटता है। यह एक सीढ़ी शब्दार्थ-ज्ञान की हुई।

अब एक मन्त्र पर दृष्टि डालने की जगह सारे सूक्त पर दृष्टि डालिएँ, तब देखिये कि उन पाये हुए अर्थों में से कौनसा अर्थ उस सूक्त में के ज्ञातार्थ शब्दों के साथ ठीक २ सम्बद्ध होता है। वह दूसरा अर्थ उस शब्द का गृहीत होगा।

फिर आप सूक्त को भी छोड़कर सारे वेद में जहां २ कहीं भी वह शब्द आया हो, देखिये। फिर उस से परिणाम निकालिये कि सारे वेद में उस मन्त्र के क्या अर्थ लिये जाने चाहिये। यह तीसरा अर्थ उस शब्द का गृहीत होगा।

अब इस के अनन्तर मैं एक तुच्छ अपना विचार पेश करता हूं उस पर खूब समीक्षा होनी चाहिये यह केवल एक विचारमात्र है और वह यह कि हर एक योगरूढ़ि शब्द मन्त्रापेक्ष, सूक्तापेक्ष तथा सर्वापेक्ष अर्थ भिन्न २ होते हैं और अतएव तीनों तरह से देखें तो प्रत्येक मन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। और उन तीन प्रकार के अर्थों में भी व्यवस्था है। वह व्यवस्था यह है कि प्रत्येक मन्त्र के मन्त्रापेक्ष अर्थ प्रायः आधिभौतिक ज्ञानपरक,

सूक्तापेक्ष अर्थ प्रायः आधिदैविक ज्ञानपरक तथा सर्ववेदापेक्ष अर्थ प्रायः आध्यात्मिक ज्ञानपरक होते हैं।

अपने इस कथन को दृष्टान्त से सिद्ध करने के लिये मैं एक मन्त्र के अर्थ यहां पर देने का यत्न करताहूं। मैं जानता हूं कि मैं इन दो एक मंत्रों के अर्थ करने में भी कृतकार्य्य नहीं होसक्ता, क्योंकि न मैं सारे संस्कृत साहित्यसे परिचय रखता हूं, न मैं ग्रीक लैटिन पाली आदि भाषाओं का ज्ञान रखता हूं जोहर एक परम्परागत शब्दार्थ को सामने रख सकूं। और उनमें से चुनने के लिये जितना तर्क चाहिये वह भी मुझमें नहीं है तथापि अपने कथन को स्पष्ट करने के लिये कुछ मंत्रों का व्याख्यान करना आवश्यक समझ कर मैं यहां साहसिक कार्य्य भी कर ही देताहूं।

सबसे पूर्व ऋक् का निम्न लिखित मंत्र लीजियेः—

'आनो ब्रह्माणि मरुतः समन्यवो नरां न शंसः सवनानि गन्तन। 'अश्वाभि वपिय्यत धेनु भूधनि कर्ता धियं जरित्रे वाजपेशसम्'। ऋ०। ३४। ६।

सबसे प्रथम इसके मन्त्रापेक्ष अधिभौतिक अर्थ लीजिये — यहां पर अर्थ करनें से प्रथम आधि-

भौतिकादि शब्दों के अर्थ बतादेनें भी आवश्यक हैं पं० श्रीपाद दामोदर सातवेलकरजी नें गतवर्ष जो निबन्ध वेद विषय पर इसी सम्मेलन में पढ़ाथा उसी से मैं उनके लक्षण यहां उद्धृत करताहूं। वायु जल विद्युत् अग्नि वनस्पति आदि देवताओं का ज्ञान आधिदैविक ज्ञान, मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणियों के ज्ञान आधिभौतिक ज्ञान, और आत्मा परमात्मा तथा सृष्ट्यादि विषयक सब ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान कहाताहै।

पहले इस मंत्र के ज्ञात यौगिक शब्द देख लेने चाहियें। आगन्तन, पिप्यत, कर्त्ता, जरित्रे ये शब्द ज्ञात तथा यौगिक हैं। आगन्तन का अर्थ आवो, पिप्यत का पुष्ट करो, कर्त्ता के अर्थ करने वाला और जरित्रे के अर्थ स्तुति करने वाले के लिये के हैं। नः शब्द अज्ञातहै किन्तु इसके एक ही अर्थ लिये जा सक्तेहैं क्योंकि 'नः ब्रह्माणि सवनानि' की विभक्तियें ही स्पष्टबतारही हैं कि 'नः के अर्थ हमारे' के हैं, हमारे लिये के नहीं। आगे मरुतः शब्द को लीजिये। मरुत् शब्द के दो अर्थ हिरण्य तथा रूप तो इस मन्त्र में मरुत् शब्द में बहुवचन होनें के कारण ही परास्त हो जाते हैं क्योंकि इनका वाचक मरुत् शब्द एकवचन है। मरुत्

के निघण्टु—सम्मत तीन और अर्थ हैं एक वायु दूसरा देव तथा तीसरा ऋत्विक्। इनका वाचक मरुत् शब्द बहुवचन होता है अतः झगड़ा इन तीनों अर्थों में ही रहजाता है। किन्तु उसका भी निर्णय शीघ्र ही हो जाता है। "सवनानि आगन्तन" इन पदों पर दृष्टि डालिये। सवननाम है यज्ञ का। इस मन्त्र द्वारा मरुतः पद—वाच्यों को यज्ञ में बुलाया है उपर्युक्त तीनों में से यज्ञ का अत्यन्त पार्श्ववर्ती अर्थ 'ऋत्विक्' स्पष्ट है। सवनानि का विशेषण ब्रह्माणि है। ब्रह्मन् शब्द के भी कई अर्थ होते हैं। यानी अन्न, धन तथा बड़े को ब्रह्म कहते हैं। इन चार अर्थों में से सवनानि के विशेषण ब्रह्माणि का एक ही अर्थ हो सक्ता है, और वह 'बृहत्' है। आगे 'मरुतः' का समन्यवः विशेषण है। मन्यु यज्ञ को तथा क्रोध को कहते हैं। यह स्पष्ट है कि ऋत्विकों के विशेषण समन्यु शब्द में मन्यु शब्द के अर्थ यज्ञ ही होंगे, और समन्यु शब्द के अर्थ "समान यज्ञवाला" यह होगा। "नरो नशंसः" के अर्थ स्पष्ट हैं। अगले पद में अश्वा और धेनु पद में सन्देह है। किन्तु थोड़े से विचार से प्रतीत हो जाता है "घोड़ी तथा गौ" को समानतया पुष्ट करने की प्रार्थना है। मरुतः बहुवचन है अतः कर्त्ता शब्द का एकवचन भी बहुवचन को ही कहेगा। जरित्रे वाजपेशसं धियं कर्ता श्रोता मनु-

ष्य के लिये "वाजपेशसं" ज्ञानरूपांधियं बुद्धिङ्कर्तारः। स्तुति करनेवाले के लिये ज्ञानरूप बुद्धि को करने-वाले, यह ऋत्विकों का विशेषण है। इस प्रक्रिया द्वारा, तर्क तथा साहित्य व्याकरणादि की सहायता से हम इन अर्थों पर पहुंचते हैं। यजमान ऋत्विकों से प्रार्थना करता है कि तुम हमारे बड़े यज्ञों में इसी तरह पधारो जिस तरह अन्य लोगों की प्रशंसायें हमारे यज्ञ में आ रही हैं। तुम घोड़ी तथा गौ की एकसी रक्षा करो, तथा जो तुम लोगों के गुणों का गान करे उसे ज्ञान-युक्त बुद्धि प्रदान करो। यह इस मन्त्र का मन्त्रापेक्ष, आधिभौतिक अर्थ हुआ।

अब सूक्तापेक्ष आधिदैविक अर्थ देखिये। सू-क्तापेक्ष अर्थ करने में जो यहां भेद होता है या कहीं अन्यत्र भी होता है उस का मुख्य बीज प्रायः देव-तावाचक शब्द होता है। यहां सूक्त की देवता "मरुतः" है। मन्त्रापेक्ष अर्थ करने में हमने "ऋ-त्विजः" अर्थ किया है, किन्तु सूक्तापेक्ष अर्थ करने में हम इस के यह अर्थ नहीं कर सक्ते, क्योंकि अन्य मन्त्रों में मरुतः के "धारावराः" "भीमा" "द्युतयन्त "वृष्टयः" "दविध्वतः" "भ्राजदृष्टयः" आदि विशेषण हैं। इन विशेषणों के देखने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मरुतः के उपर्युक्त अर्थों में से यहां पर "वायु"

या उस से अधिक सम्भवतया "अन्तरिक्षस्थान के देवता या शक्ति में" लेनी चाहियें । उस पक्ष में "ब्रह्माणि" के अर्थ "अन्नानि" करने होंगे, क्योंकि वायु के या अन्तरिक्ष स्थान की शक्तियों के सम्बन्ध में ब्रह्माणि शब्द से "वृहन्ति" लेने में कोई विशेष तात्पर्य्य नहीं । "सवनानि" के अर्थ "अभिषवशीलानि" होगा और वह अन्नका विशेषण ठीक हो जायगा । शेष सारे मन्त्र का अर्थ पूर्व प्रकार से ही रहेगा । जैसे पहले अर्थों में ऋत्विकों से यज्ञ में आने के लिये प्रार्थना की गई थी, अब अन्तरिक्ष में कार्य्य करने वाली शक्ति से सरस अन्नों को प्राप्त होने की प्रार्थना है ।

शेष रहा आध्यात्मिक अर्थ । वह तो वेद में एक ही जगह निश्चित कर दिया है ।

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः सुपर्णो गुरुत्मान् । एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ऋ० । १ । १६५ ।

इस मन्त्र द्वारा उपलक्षण से वेद ने बता दिया कि जितने देवता वेद में भिन्न २ स्थानों में वर्णित हैं, वस्तुतः वे सब एक ईश्वर की ही शक्ति के भिन्न २ आविष्कार हैं । अन्य सब देवताओं की प्रशंसा

इस एक महादेव की प्रशंसा में लीन हो जाती है। यास्कीय निरुक्त में भी कहा है "माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्येदेवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति" अर्थात् यद्यपि मुख्य देवता एक है तथापि वह अनेक गुणों के कारण अनेक रूपों में वर्णित होता है, एक ही महती शक्ति की अनेक अवान्तर शक्तियें देवता रूप से विद्यमान हैं।

अतः अन्य किसी झगड़े में पड़े विना हम कह सक्ते हैं कि सारे के सारे वेद मन्त्र, चाहे वे अन्य किसी ही देवता के गुण का वर्णन करते हों, अंत को ईश्वर के ही गुणों का बखान करते हैं क्योंकि उसी की सर्व व्यापिनी शक्ति के बल से सब शक्तियें काम कर रही है।

इस प्रकार विचार पूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि वेद के प्रत्येक मन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ हो सक्ते हैं। उन अर्थों के करने के लिये किन २ भागों का अवलम्बन करना चाहिये, तथा किन २ विद्याओं की सहयाता लेनी चाहिये। यह भी स्पष्टतया ऊपर ही पता लग गया होगा। उन सब बातों का संक्षेप यह है कि।

(१) वेदार्थ करने के लिये सब से प्रथम न

केवल नवीन संस्कृत तथा वैदिक साहित्य व्याकरणादि का ही ज्ञान आवश्यक है, वैदिक भाषा से निकली हुई अन्य ग्रीक लैटिनपाली पाहलवी आदि भाषाओं का जानना भी आवश्यक है, क्योंकि सम्भव है कई वैदिक शब्दों के अर्थ नवीन संस्कृत में न आये हों किन्तु अन्य भाषाओं में चले गये हों। यद्यपि यह यहां कह देना चाहिये कि शायद इन अन्य भाषाओं की सहायता की आवश्यकता हज़ार पीछे एक शब्द में पड़े, तो भी उस सहायता को छोड़ कर यदि उस हज़ारवें शब्द के अर्थ को हम खोबैठें तो भी हमने वेदार्थ का एक बड़ा हिस्सा खोदिया।

(२) दूसरी आवश्यकता वेदार्थ करने में वेदों के अनवरतपाठ तथा गाढ़े ज्ञान की है, अन्यथा वेद द्वारा ही वैदिक शब्दों के अर्थों के ज्ञान की आशा पूरी नहीं होसक्ती।

(३) तीसरी बड़ी भारी आवश्यकता ठीक २ तर्कनाशक्ति की है। बिना तर्क के उपर्युक्त दोनों प्रकार की सहायतायें हमें कुछ लाभ नहीं देसक्तीं।

इन तीनों स्थानों से हमें जो सहायतायें मिलती हैं, उन्हें लेते हुवे हमें चाहिये कि हम बड़े यत्न तथा खोज से वेदों के अर्थों में प्रवृत्त हों, और वैदिक शब्दों को (कामधेनु के अर्थों में) यौगिक मानते

हुवे, हरिश्चन्द्र के अर्थ राजा और शुनःशेप के अर्थ बद्धपुरुष के कहके ही काम न निकालते जावें।

वेदों के अर्थ करते हुवे एक झगड़ा और पड़ जाता है, उसे निपटाये विना भी काम नहीं चलता। वह झगड़ा यह है कि कहीं वेद में देवता का 'वह' पद से वर्णन है, कहीं उसका तू करके सम्बोधन किया है, और कहीं वही देवता 'मैं' कहकर अपना वर्णन करती है। दृष्टान्त के लिये "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत सदेवांएहवक्षति" इस मन्त्र में अग्नि का 'स' पद से वर्णन है, "अग्ने त्वं पारयानव्यो अस्मान्त्स्वस्तिभिरग्ति दुर्गाणि विश्वा। पूश्वपृथ्वी बहुलानउर्वीभवा तोकायतनयाय शन्तनोः" इस मन्त्र में उसी अग्नि का त्वं करके वर्णन है। 'अहं' पद से जिन मन्त्रों में किसी देवता का वर्णन है, ऐसे मन्त्र बहुत थोड़े हैं। निम्न लिखित मन्त्र दृष्टान्त रूप से दिया जा सक्ता है। "अह मिन्द्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीऐ रजसी सुमेके त्वष्टेवविश्वा भुवनानि विद्वान्समैरयं रोदसी धारयं च।" ऋक्०। ४। ४२। ३।

इन्हीं प्रकार के मंत्रों को 'परोक्षकृताऋचः' 'प्रत्यक्षकृताऋचः' तथा 'आध्यात्मिक्यः' के नाम से निरुक्तकार ने पुकारा है। इन प्रकारों के भेद से वेदार्थ में बड़ी गड़बड़ लोगों ने की है। 'प्रत्यक्षकृत' ऋचा-

ओं के कारण त्वं शब्द से भूलकर कई लोगों ने इन्द्र अग्न्यादि देवों को शरीरी सुननेवाला मान लिया है। 'आध्यात्मिकी' ऋचाओं के 'अहम्' पद के भ्रम में पड़कर पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों में देवों की बात चीत तक निकाल डाली है। किन्तु वस्तुतः ध्यान लगाकर देखा जाय तो वदों में इन तीनों प्रकारों से वस्तुतः एक ही पदार्थ का अनेक रूपों से वर्णन किया जाता है। किसी देव का या किसी पदार्थ का 'वह' पद से वर्णन कीजिये, उसे तुम कहकर पुकारिये, या मैं शब्द से उसके द्वारा ही कुछ कहाइये, अभिप्राय एक ही है। स, त्वं, अहम् के प्रयोग से वेद में वक्तृभेद सा अभिप्राय भेद नहीं, यह स्वयं वेद के ही प्रामाण्य से दिखा सक्ते हैं, ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में ही देखिये। एक मंत्र 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवान् एह वक्षति'इस मंत्र में "स" पद से अग्नि का वर्णन है। इसी सूक्त में आगे मंत्र है—'यदङ्गदाशुषेत्वमग्ने भद्रङ्करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः'। इसमें उसी अग्नि का "त्व" पद से आह्वान है। पास ही पास के मंत्रों में अहं स तथा त्वं का एक ही वस्तु का प्रयोग बताता है कि अग्नि को "त्वं" पद से बुलाने में केवल वर्णन के प्रकार का भेद है, अभिप्राय भेद नहीं।

इसी प्रकार से त्वं तथा अहम् का एक सूक्त में,

एक ही देव के वर्णन में आना भी बता रहा है कि इन शब्दों के प्रयोग से केवल वर्णन प्रकार में भेद है, वक्तृ-भेद नहीं। चतुर्थ मण्डल के बयालीसवें सूक्त पर दृष्टि डालने से हमें ऐसा ही दीखता है।

'मांनरः स्वश्वा वा जयन्तो मांवृताः समरणे हवन्ते। कृणोम्याजिम्मघवाहमिन्द्र इयर्मिरेणुमभि भूत्योजाः।'

इस में इन्द्रदेव का अहं शब्द--प्रयोग द्वारा वर्णन किया गया है--किन्तु दूसरे ही मन्त्र में उस का त्वं शब्द से वर्णन है—मन्त्र यूं है—

'विदुष्टे विश्वा भुवनानि तस्य ता प्रब्रवीषि-वरुणाय वेधः। त्वं वृत्राणि शृण्विषेजघन्वान्त्वं वृताँ अरिणा इन्द्रसिन्धून्॥'

इन उपर्य्युक्त दृष्टान्तों से आप को प्रतीत हुआ होगा कि अहम् त्वं तथा सः के प्रयोग से वेद में वक्ता या श्रोता में भेद नहीं होता, वही एक मात्र वेदों का वक्ता है, और वे ही मनुष्य उन के श्रोता हैं।

इस उपर्य्युक्त प्रकार से यदि वेदों का अनुशीलन किया जावे, तो सम्भव है कि हम वेदों के किन्हीं निश्चित अर्थों पर पहुंच सकें। आर्य्यसमाज का सदा से दावा रहा है कि वेदों के अर्थों का वेदों से ही जानना ठीक है। तर्क ऋषि की सहायता पाकर तथा

कई स्पष्ट अंशों में संस्कृत तथा अन्य भाषाओं की भी सहायता लेकर हम वेदों में से ही वेदों के अर्थों को जान सक्ते हैं। जब तक हम वेदों में से ही वैदिक शब्दों अर्थोंका निश्चय न करेंगे, और जब तक हम हरएक शब्द के अपने किये हुए अर्थ के लिये पर्य्याप्त प्रमाण उपस्थित न करेंगे, तब तक विद्वानों तथा समीक्षकों की दृष्टि में हमारे किये वेदार्थ कुछ भी कीमत नहीं रख सक्ते।

साथ ही जब तक हम अपने पूर्वाभ्युपगमों का त्याग करके और इस निश्चय को छोड़ कर कि जो कुछ हम समझते या नवीन विज्ञान से पढ़ते हैं वही वेदों से निकलना चाहिये, वेदों के भाषाक्रम द्वारा तथा वेदों द्वारा वेदों के अर्थ करने का यत्न नहीं करते तब तक कोई भी निष्पक्षपात विरोधी वेदों के गौरव का क़ायल नहीं हो सक्ता। वेद के प्रत्येक शब्द के जो अर्थ हम करते हैं, उसके लिये हमारे पास काफ़ी सबूत चाहियें। जब तक वह हमारे पास वह नहीं है, तब तक वैदिक शब्दों को यौगिक मान कर उन के मनमाने अर्थ कर जाना योग्य नहीं है। हमारे ऐसे अर्थों को देख कर कोई भी वेदविरोधी वेदों पर विश्वास नहीं कर सक्ता।

कारण इस का यह है कि यदि शब्द यौगिक हैं,

यदि वेदों के शब्द सर्वार्थवाची हैं तो कृपया हमें बताइये कि सायणकृत वेदार्थों के न मानने में हमारे पास क्या युक्ति है । शायद आप कहेंगे कि सायण के अर्थ बुद्धि विरुद्ध होने से अमाननीय हैं । यह ठीक है, किन्तु इस हालत में सत्यता तथा असत्यता की परख करने वाली आप की बुद्धि हुई, न कि वेद । क्योंकि आप की सम्मति में, आप की बुद्धि जो कुछ माने या नवीन विज्ञानादि जो कुछ कहे, वही वेदोक्त है । उस समय आप के वेदों का स्वतः प्रमाणत्व और मनुष्य बुद्धि का परतः प्रमाणत्व कहां जायगा ।

आप में से कई शायद कहेंगे कि सायणादि के किये हुए वेदार्थ प्राचीन आर्षग्रन्थों के किये हुए अर्थों के विरुद्ध होने से अमाननीय हैं । यहां फिर मेरा वही प्रश्न है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं या पुराने आर्षग्रन्थ स्वतः प्रामण हैं ? यदि वेद स्वतः प्रमाण हैं तो पुराने आर्षग्रन्थों की सत्यता वेदों के अनुकूल होने से सिद्ध होगी, न कि वेदार्थ की सत्यता उन के अनुकूल होने से ।

सम्भव है कि कई महाशय कहें कि सायणादि के अर्थ व्याकरण तथा निरुक्त के विरुद्ध होने से अमाननीय हैं । उन से भी मेरी प्रार्थना है कि सायणा-

चार्य्य के अर्थों को जो वीर व्यारण के विरुद्ध कहता है वह संस्कृत व्याकरण से अनभिज्ञ है। संस्कृत व्याकरण में वैदिक भाषा का जो हिस्सा है उसे जिस ने देखा है वह कभी नहीं कह सक्ता कि सायण के किये हुए वेदार्थ व्याकरण से विरुद्ध हैं। शेष रहा निरुक्त, वह वेदार्थ की ताली कही जाती है। मेरी समझ में वह ताली तो है, किंतु ऐसी ताली है जो लगाने से कई एक घरों के दरबाज़े एक दम खोल देती है और वास्तविक हमारे प्राप्य कमरे का ढूंढ लेना हम पर छोड़ देती है। निरुक्त से हम शब्दों का व्युत्पत्तिप्रकार जान सक्ते हैं, एक शब्द के अनेक विग्रह जो सम्भव हैं हमें निरुक्त से प्रतीत हो सक्ते हैं, किन्तु उस को वेदार्थ का निश्चायक कहना ठीक नहीं वेदार्थ का निश्चायक तो वेदों का तार्किक दृष्टि से निरीक्षण ही है।

विना इस तार्किक निरीक्षण के वेदों का अर्थ करना कठिन है। किन्तु एक और भी मार्ग है जिस से हम वेदार्थ तक पहुंच सकते हैं, और वह मार्ग योग का और समाधि का मार्ग है वेदों के अर्थ करने का वह प्रकार जो ऊपर कहा गया है साधारण पुरुषों के लिये है, असाधारण पुरुषों के लिये नहीं, सारे वृक्ष पृथिवी में अपनी जड़ों द्वारा अपना भोजन खींच कर

लेजाते हैं किन्तु उस आकाशलताको देखिये जो विना पृथिवी में प्रवेश किये ही हरीभरी दिखाई देती है। यही हाल असाधारण पुरुषों का है। जिस कार्य्य को करने के लिये साधारण पुरुषों को अनन्त परिश्रम करना पड़ता है, असाधारण पुरुष उस कार्य्य को अनायास ही कर डालते हैं। विश्वामित्र को जिस ब्राह्मण्य पाने के लिये अतिदीर्घ तप करना पड़ा वसिष्ठ नें उसे बाल्यावस्था में ही पा लिया था; इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध दार्शनिक मिल कहा करता था कि मैं जिन दार्शनिक परिणामों पर बड़े लम्बे चौड़े तर्क के अनन्तर पहुचता हूं, प्रसिद्ध भविष्यद्दर्शी कालाईल उसे अपनी ज्ञान दृष्टि से सहज में ही देखलेता है।

इसी प्रकार जिस वेदार्थ को जानने के लिये हम साधारण पुरुषों को बड़े लम्बे तथा जटिल रास्तों पर से चलने की आवश्यकता है, योगी तथा ध्यानी असाधारण पुरुष उसे सहज ही में जान लेते हैं। जो लोग उन योगियों तथा ध्यानियों से प्रभावित होजाते हैं, यह उन का कर्तव्य होता है कि वे उनके किये अर्थ को तर्क तथा उपर्युक्त प्रमाण शृङ्खला द्वारा पक्का करके लोगों के सामने रक्खें, क्योंकि विना इन दोनों बातों के कोई भी विरोधी उसे मानाने के लिये तय्यार न होगा।

ऋषि दयानन्द योगी थे, ध्यानी थे, वे असाधारण पुरुषथे । उन्होंने अपनी ज्ञान दृष्टि से ही वे अर्थ कर लिये जिन्हें साधारण पुरुष शायद बड़ी लम्बी खोज के अनन्तर भी न पा सक्ते किन्तु उन अर्थों पर अन्य लोगों का विश्वास जमाने के लिये, अवशिष्ट वेदों के अर्थों की खोज करने के लिये तथा ऋषिकृत वेदार्थ को सत्यता प्रकाशित करने के लिये हमें वेदार्थ करने के उपर्युक्त जटिल प्रकारों की आवश्यकता है । उन के तथा तत्सदृश अन्य प्रकारों के विना अब कार्य्य न चलेगा । हम लोग साधारण पुरुष होते हुवे भी असाधारण पुरुषों के मार्गों का अवलम्बन करते हैं और वेदार्थ की खोज में यत्न न करते हुवे ऋषि दयानन्द के हस पल्ले बन कर धड़ाधड़ वेदार्थ किये जाते हैं। हमें संभलना चाहिये, हमें देखना चाहिये कि लोग हमें क्या कहते हैं, कहीं लोग हम पर हंसते तो नहीं ! यह भी विचार रखना चाहिये कि हमारे किये वेदार्थों पर कोई विश्वास भी रखता है या नहीं ? हमारे किये वेदार्थों का गौरवभी कुछ बढ़ता है या नहीं ?

इस विषय को यहां छोड़ कर अब मैं उन प्रकारों के विषय में कुछ कहना चाहता हूं, जिन का वेदार्थ करने के लिये अब तक अवलम्बन किया जाता रहा है ।

प्रथम, यदि हम साधारणतया उन प्रकारों के भेद करने लगें तो वे दो पक्षों में विभक्त हो जाते हैं। उन में से एक पक्ष ऐतिहासिक पक्ष और दूसरा यौगिक पक्ष है। ऐतिहासिक पक्ष से मेरा उस पक्ष से अभिप्राय है जो वेदों की भाषा तथा धर्म का सापेक्षकदृष्टि से निरीक्षण करता है। वेदों की भाषा की ग्रीक तथा लेटिन आदि भाषाओं के साथ तथा वेदों के धर्म की बेबीलोन, सीरिया, ग्रीस आदि देशों की पुरानी धार्मिक दशा के साथ तुलना करते हुए ये लोग अपने अभ्युपगत सिद्धांतों के अनुकूल वेदों को लगाते हैं। पाश्चात्य विद्वान् इसी पक्ष के पक्षपाती हैं। वे लोग अन्य धर्मों तथा भाषाओं की अपेक्षया वेद के अर्थों तथा भाषा का अध्ययन करते हैं। ऐसे लोगों की कई एक अशुद्धियें हैं जिन के कारण वे ठीक २ वेदार्थ पर नहीं पहुंच सकते।

(१) सब से प्रथम ऐसे विचारकों के मन में वेद प्रतिपाद्य धर्म के विषय में एक विशेष प्रकार के विचार पहिले से ही बैठे रहते हैं। उन का यत्न सदा यह होता है कि किसी न किसी तरह वेदप्रतिपाद्य धर्म बेबीलोनिया आदि के धर्म के साथ कुछ समानता रखता हुवा सिद्ध हो जावे। वे जिस समानता के नियम को वेदों के अनुशीलन से सिद्ध करना चाहते

हैं, प्रायः उसी को पहले मान कर उस की चांदनी में वेदों का अनुशीलन करते हैं। इस से निष्पक्षपात समालोचना का सारा का सारा प्रभाव उड़ जाता है।

(२) दूसरी ग़लती जो ऐसे विचारक लोग करते हैं यह है कि वैदिक शब्दों के अर्थ करने में प्रायः सायणादि का अनुगमन करते हैं। किन्तु यह अनुगमन वहीं तक चलता है, जहां तक कि उन बिचारकों के पूर्वाभ्युपगत बिचारों के साथ वह आनुकूल्य रक्खे। उसके साथ प्रातिकूल्य होते ही वे झटपट उन अर्थों को छोड़छाड़ कर ग्रीकलैटिन आदि भाषाओं का आश्रय ले लेते हैं।

दूसरा पक्ष, यौगिक पक्ष है। इस यौगिक पक्ष में अन्य अनेक उपपक्ष हैं। वे उपपक्ष प्रायः भारतवर्ष देश में ही प्रचलित हैं। उन उपपक्षों को एक २ करके लेता हुवा मैं उनके विषय में कुछ थोड़ा बहुत बिचार करूंगा।

(१) प्रथम उपपक्ष ऐतिहासिक है। इस पक्ष के अनुगामी यास्क के निरुक्त से भी पूर्व विद्यमान थे। ये लोग मानते थे तथा मानते हैं कि इन्द्र अग्नि आदि सब देव तथा इन का सङ्ग्रामादि सब घटनायें वस्तुतः हुई थीं, वे ऐतिहासिक घटनायें थीं। ऐसे

ही लोग अनेक पौराणिक गाथायें वेदों में से दिखाते हैं। वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ करते हुए ही ये लोग वेदों में से इतिहास निकालते हैं। ऐसे विचारकों की भूल स्वयं वेद से सिद्ध हो सक्ती है। वेद का 'इन्द्रं मित्रं वरुण मग्नि माहुरि' इत्यादि मंत्र जो ऊपर भी दिया जा चुका है, ऐसे विचारकों के पक्ष का सर्वथा विध्वंस कर देता है। यदि ऐसे इंद्रादि देव शरीरधारी प्राणी थे, तो एक ईश्वर वह सब कुछ कैसे हो सक्ता है। और इंद्रादि के शरीरधारी प्राणी होने में वेद या कोई प्रबल प्रमाण नहीं है, अतः इंद्रादि का संसार में कार्य्य करने वाली शक्तियें मानना ही स्पष्ट है।

दूसरा याज्ञिक उपपक्ष है। याज्ञिक उपपक्ष का मूल मन्त्र 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य मतदर्थानाम्' यह सूत्र है। इस पक्ष के याज्ञिक लोग मानते हैं। कि वेद यज्ञों में विनियोग के लिये ही है, वेदों का अन्य कोई प्रयोजन नहीं। इस पक्ष का वेदभाष्य ब्राह्मणों तथासूत्रग्रंथों को समझिये। ब्राह्मणों में प्रायः सब वेदमन्त्र यज्ञों में ही विनियुक्त किये गये हैं। आरण्यक भागों को छोड़ कर सारे ब्राह्मण सूत्रग्रन्थ कर्मपरक ही वेदों का विधान करते हैं। इन पक्ष वालों का जैसा उत्तम खण्डन

श्री. शङ्कराचार्य्यजी ने अपने शारीरिक भाष्य में किया है, वैसा अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। सारे वेदों को कर्म्म परक लगाने वाले महाशय 'अग्नि र्हिमस्य भेषजम्' 'तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति इत्यादि स्पष्ट ज्ञानविधायक मन्त्रों की कुछ भी व्यवस्था नहीं कर सक्ते।

तीसरा उपपक्ष आलङ्कारिक उपपदा है, इस पक्ष के पक्षपाती सारे वेदों को आलङ्कारिक सिद्ध कर देने के पीछे हाथ धोकर पड़े हुए हैं॥

इन महाशयों की सम्मति में सुवर्ण, सप्तऋषि, सप्तलोक, उनिञ्चासवायु, सप्त होता, गौ, धेनु, विप्र, आत्मा, सोम, चन्द्रमा, पञ्चजन, पञ्चब्रह्मपुरुष, देव, असुर आदि समस्त वेदान्तर्गत शब्द एक प्राण अर्थ के ही कथन करने वाले हैं। जो सप्तऋष्यादि के वर्णन हैं, वे सब आलङ्कारिक हैं—वस्तुतः वे प्राणों के ही वर्णन के लिये घड़े गये हैं। ऐसे महाशयों से एक निवेदन है कि आलङ्कारिक वर्णन होने से वेद का कोई गौरव नहीं होता, किन्तु उसकी कृशता प्रकाशित होती है। जो वेद केवल मनुष्य हितार्थ प्रकाशित हुए उनमें भुलाने वाले आलङ्कारिक वर्णन भरे हुए हैं, ऐसा समझने से उनके प्रकाशक की कितनी न्यूनता प्रतीत होती है। यदि ज़रा भी विचार किया

जांय तो जैसे २ अलङ्कार हमारे अलङ्कारप्रिय वेदवक्ता वेदों में से दिखाते हैं, उनके लिये वेद में कोई प्रमाण नहीं, कोई साधक हेतु नहीं।

चतुर्थ उपपक्ष यौक्तिक है यौक्तिक उपपक्ष के मानने वाले महाशय मानते हैं कि वेदों में सारा विज्ञान तथा सारी विद्यायें भरीपड़ी हैं इन महाशयों का इतना मानना तो ठीक है पर इस के आगे जो कुछ यह करते हैं उसे कोई भी निष्पक्षपात मनुष्य ठीक नहीं मान सकता। जो कुछ ऐसे वेदज्ञों की समझ में ठीक जचता है सो ही वेद में से निकाल देते हैं जो विज्ञान मन में भाता है उसे ही वेद में से दिखाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोगों की अनुचित कार्य्यवाही स्वयं गर्हित है। क्यों कि यह वेदों के अर्थों के जानने की चेष्टा नहीं करते, किन्हीं विशेष स्वाभिमत बातों को वेदों के सिर मढ़ने की चेष्टा करते हैं।

अन्तिम निवेदन।

इन वेदार्थ के अनेक प्रकारों के साधारण निरीक्षण के अनन्तर मैं अपने निबंध को समाप्त करता हूं। परंतु प्रथम इस के मैं इतना कहदेना चाहता हूं कि इस निबंध के लिखने से मेरा मुख्य प्रयोजन यह दिखाना है कि वेदों के अर्थ जानने का वास्त-

थिक मार्ग बहुत कठिन है। उस मार्ग का अवलम्बन करने से यद्यपि हम एक बड़े वेद वक्ता न हो सकेंगे तथापि हम वेदार्थ जानने की ओर जो उन्नति करेंगे वह निश्चित होगी। साथ ही मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि जो कुछ मैंने दिखाया है उसे वेदार्थ का एक पूर्ण प्रकार कहना एक प्रकार की शठता होगी। मेरा प्रयोजन केवल यह दिखाना था कि हम किस प्रकार से वेदार्थ के प्रकार की खोज कर सक्ते हैं। यह निबंध उस खोज करने में प्रवृत्त होने के लिये केवल प्रार्थना मात्र है। वेदार्थ का ठीक २ प्रकार तो उस खोज का फल होगा। और यह निश्चित बात है कि वेदार्थ करने के प्रकार के जाने विना वेदार्थ करना विडम्बना मात्र है। अतः इस विषय के ऊपर कुछ एक तुच्छ विचारों को उपस्थित करने की शठता के लिये क्षमा मांगता हुआ मैं इस विषय को समाप्त करता हूं।

इति शुभम्।

---

* ओ३म् *

गुरुकुलीय साहित्य परिषद्

के

उद्देश्य

निम्नलिखित उद्देश्यों से परिषद् स्थापित की गई है :—

१—गुरुकुल महाविद्यालय के विद्यार्थियों में विद्या प्रेम बढ़ाने और भिन्न २ विषयों पर निवन्ध पढ़वाकर उन की समालोचना शक्ति को उत्तेजित करने के लिये ।

२—प्राचीन और नवीन संस्कृत साहित्य अर्थात् वेद ब्राह्मण, दर्शन, इतिहास, काव्य आदि विषयों की खोज करने और यथासम्भव उस के परिणाम को प्रकाशित करने के लिए;

३—पहले से इस खोज में प्रवृत्त विद्वानों को एकत्रित करने और परस्पर विचार करने का अवसर देने के लिये;

४—बाह्य विद्वानों से निबन्धों को पढ़वाकर और व्याख्यानों को दिलवाकर गुरुकुल के विद्यार्थियों को लाभ पहुंचाने के लिए ।

नोट—साहित्य परिषद् के सभासद् बनने के अभिलाषियों को २) वार्षिक चन्दा देना होता है ।

* ओ३म् *

साहित्यपरिषत्

सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ।

इह गुरुकुले विद्वद्भिश्छात्रैश्च सम्भूय साहित्यपरिषद-भिधा परिषदेका स्थापिताऽस्ति । प्रतिपक्षमस्या अधिवेशनं जायते । तत्र च प्रतिवारमेको निबन्ध आर्यभाषया गीर्वाण-वाण्या च निबद्धः श्राव्यते । यमधिकृत्य च विवादोऽपि प्रवर्तते । अस्याः सभासत्त्वमीप्सुभिः प्रतिवर्षं रूप्यकद्वयं प्रदातव्यं भवति ।

विश्वमित्रः
मन्त्री साहित्यपरिषदः

पं० अनन्तराम शर्म्मा के प्रबन्ध से सद्धर्म्म-प्रचारक यन्त्रालय
गुरुकुल कांगड़ी में मुद्रित ।